शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद

लेखक

डॉ. भगवानदास, काशी

सरस्वती प्रेस बुक-डिपो
९३, का० म० क० रोड
इलाहाबाद सिटी

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

जून १९४४ : २०००

मूल्य
चार आना

मुद्रक
देवीप्रसाद शर्मा,
हिंदुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली

BEST COPY AVAILABLE

BLANK PAGES COUNTED

हिन्दी - साहित्य - सम्मेलन
हिन्दी - संग्रहालय
मिति ....

भूमिका

गये जाड़े में, चार-पांच महीनों, दिल्ली, कानपुर, प्रयाग में 'होम-हवन-यज्ञ' आदि की बहुत चर्चा और बड़ी धूम रही। काशी में भी, तथा अन्य दो-तीन छोटे नगरों में, उनका अनुकरण करने का यत्न किया गया; पर प्रायः वैसे अग्रणी, उतने श्रद्धालु, और उतने रुपये, एकत्र न हो सकने से यत्न फीका रहा। उन दिनों समाचारपत्रों में, इनके बारे में, खबरें छपा करती थीं; कुछ सज्जनों ने यह आपत्ति भी छपाई कि "ऐसे समय में, जब लाखों प्राणी अन्न के अभाव से मर रहे हैं, तब धर्म के नाम पर यज्ञ करके अन्न और घी जलाना पाप है ;" कुछ ने तो यह भी इच्छा प्रकट की, कि गवर्मेण्ट को, मनुष्य के भोज्य पदार्थों का ऐसा संहार रोकना चाहिए। दूसरे पक्ष का कहना है कि यह कर्म नितान्त धर्म है, 'शास्त्र'-विहित है, किया जाना ही चाहिए। तर्क-प्रतितर्क होता रहा। बीच-बीच में, मेरे पास, कुछ छपे, कुछ लिखे, पत्र आते रहे, तथा दूसरों के पत्रों की प्रतिलिपियां भी भेजी गईं। मुझसे यह भी कहा गया कि इस विषय पर, जनता के सामने, जो विचार तुमको समयोचित जान पड़ें उनको रक्खो।

उमर अधिक; शक्ति क्षीण; जो कुछ थोड़ी बची है उसको, इधर पांच-छः महीने से, अपने श्लोकबद्ध संस्कृत ग्रन्थ "मानव-धर्म-सारः" के नये परिबृंहित संस्करण के छपाने में लगा रहा हूं। मेरे हिन्दी ग्रन्थ "पुरुषार्थ" के पुनर्मुद्रण के लिए भी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, का तकाजा हो रहा है। इस कारण मैं हिचका। पर फिर सोचा कि यह कार्य भी उसी उद्देश्य के एक मुख्य अंश का सहायक है जिसके साधन के लिए संस्कृत और

BLANK PAGES COUNTED

हिन्दी के वे ग्रन्थ लिखे गये। प्रस्तुत अति संक्षिप्त निबन्ध लिखने का निश्चय किया।

पाठक सज्जन प्राय: जानते होंगे कि ४०-४५ वर्ष से, शिक्षा-संस्थाओं, लेखों, और व्याख्यानों के द्वारा, जैसी भी समझ, गलत या सही, परमात्मा ने मुझको दी है, उसके अनुसार, प्रत्यक्ष क्षयरोग से ग्रस्त हिंदू धर्म और हिंदू समाज की चिकित्सा करने-कराने में लगा हुआ हूं। ऐसे सज्जन प्राय: यह भी विश्वास करते होंगे कि मेरी नीयत नेक और सच्ची है, चाहे मेरी बुद्धि को कच्ची ही जानें। मैं आशा करता हूं, और प्रार्थना भी करता हूं, कि जो पाठक इस लेख को पढ़ें, वे ऐसे ही विश्वास से इसे पढ़ें।

काशी,
जून १९४४

भगवान्दास

'शास्त्रवाद' बनाम 'बुद्धिवाद'

विषय-प्रवेश

प्रस्तुत विषय के प्रतिद्वंद्वियों का नाम 'शास्त्र'वादी और 'बुद्धि'वादी रख दिया जाय, तो इस लेख में सुविधा होगी।

'शास्त्र'-वादी सज्जन, पद-पद पर, 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग करते हैं— 'शास्त्र' यह कहता है, 'शास्त्र' वह कहता है, जब 'शास्त्र' परस्परविरुद्ध वाक्य कहें तब 'शास्त्रीय' पद्धति से ही 'शास्त्रीय' विरोधों का परिहार करना और 'शास्त्रीय' सिद्धांत को समझना चाहिए, 'शास्त्र'-विरुद्ध मत चिरस्थायी नहीं रह सकते, इत्यादि। 'बुद्धि'वादी सज्जन, 'बुद्धि', 'विवेक', 'विचार' पर जोर देते हैं। यह हुज्जत बड़ी पुरानी है। प्रत्येक धर्म-मजहब-'रिलिजन' के, और प्रत्येक साक्षर, लिखे-पढ़े, समाज और देश के, इतिहास में देख पड़ती है। पुन:-पुन: दबाई जाती है, शांत की जाती है। पुन:-पुन:, नये-नये बहाने से, उभरती है। क्या किया जाय, मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है ! भारतवर्ष में तो वास्तविक इतिहास लिखने-पढ़ने की रुचि, हजारों वर्ष से, उच्छिन्नप्राय हो रही है। संस्कृतज्ञ विद्वान प्राय: संस्कृत ग्रन्थों ही को पढ़ना लिखना चाहते हैं; नये पाश्चात्य ज्ञान का तिरस्कार करते हैं; इसलिए दृष्टियां संकुचित हो रही हैं, 'बहुश्रुतता' लुप्त हो रही है, समयोचित व्यवहार के ज्ञान की कमी हो गई है, और जन-साधारण को समझाना बहुत कठिन हो रहा है। यूरोप में, शास्त्रवादी 'रोमन कैथलिक' और बुद्धिवादी 'प्रोटेस्टंट' आदि के वाग्युद्धों, फिर दारुण शस्त्रयुद्धों, का इतिहास, भारत की जनता यदि जानती होती, तो यहां ऐसी हुज्जतें प्राय: बन्द होगई होतीं (जैसे यूरोप में बन्द होगई हैं), या जब कभी उठतीं तो सहज में निपटा दी जातीं। यह बात, धर्म, मजहब,

'शास्त्र' के नाम की लड़ाइयों की है। जो विश्वयुद्ध आजकाल यूरोप में आरम्भ होकर जगद्व्यापी हो रहा है उसके कारण दूसरे हैं, उनकी चर्चा यहां नहीं है। याद रखना चाहिए कि महामर्हाष वेदव्यास जी के ही वंश में प्रजाविनाशक कौरव-पांडव युद्ध हुआ, पांच हजार वर्ष पहिले, जब 'शास्त्र' और 'वेद' और 'सनातनधर्म का' निर्द्वंद्व राज्य था। ऐसी कठिनाइयां होते हुए भी, जब हुज्जत चल पड़ी, तब उसको निपटाने का यत्न करना ही चाहिए।

कचहरी में जब कोई मुकदमा पेश होता है, तो न्यायाधीश का पहिला काम यह होता है कि 'तनकीह', 'संशय स्थान', 'मुख्य प्रश्न', 'पॉइंट्स इन इशू' को स्थिर कर दे, और दूसरा काम यह होता है कि जो गवाही, साक्षी दी जाय, वह अप्रसक्त न होने पावे, मुख्य प्रश्न से सदा प्रसक्त ही रहे।

मुख्य और अवान्तर प्रश्न

इस दृष्टि से देखने से, स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय में, मुख्य प्रश्न यह है कि (१) "जब लाखों प्राणी, इस देश में, अन्न बिना मर रहे हैं, तब अन्न और घी का, किसी तथाकथित शास्त्र के अनुसार, आग में जलाना पाप है, अधर्म है, अकरणीय है, या नहीं ?" अवान्तर प्रश्न, जो मुख्य प्रश्न से निकटतर सम्बन्ध रखते हैं, ये हैं—(२) इस मुख्य प्रश्न का निर्णय, लौकिक मानव 'बुद्धि' से, होना चाहिए, या किसी तथाकथित 'शास्त्र' से ? (३) 'शास्त्र' क्या वस्तु है ? (४) 'शास्त्र' और 'बुद्धि' में जब विरोध हो, तब कौन प्रबल माना जाय ? (५) यदि 'शास्त्र' प्रबल माना जाय, तो उसके अनुसार, मुख्य प्रश्न का उत्तर क्या होता है ? (६) यदि 'बुद्धि', तो क्या ?

इन सभी प्रश्नों पर विचार, "मानव-धर्म-सारः" में, आर्ष, ऋषि-कृत, ग्रन्थों से सैकड़ों वाक्यों का उद्धरण करके, मैंने विस्तार से किया है; तथा हिन्दी ग्रन्थ "पुरुषार्थ" के पांचवें और छठवें अध्यायों में भी, थोड़ा। यहांपर उसका निश्चयोत, निचोड़, मात्र, बहुत संक्षेप से, लिखा जा सकता है।

शास्त्र क्या है ?

अवान्तर प्रश्न '(३) शास्त्र क्या वस्तु है ?' इसको पहिले देखना चाहिए। स्यात् इसमें किसीको आपत्ति न होगी, यदि कहा जाय कि 'शास्त्र' शब्द से जो ग्रन्थ आजकाल समझे जाते हैं, वे सब, किसी न किसी मानव की 'बुद्धि' से ही उत्पन्न हुए हैं।

शास्त्रं सृजन्ति मनुजाः; न शास्त्रं मनुजान्, खलु।

शास्त्र को पुरुष उत्पन्न करते हैं; पुरुष को शास्त्र नहीं।

न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धिसाध्यं, न तत्प्रभुत्वं तु कदापि बाध्यं।

'बुद्धि' की गति यहां नहीं है'–यह निर्णय भी हमारी-आपकी बुद्धि ही करती है। बुद्धि के प्रभुत्व का बाधक कभी हो नहीं सकता; यदि है, तो वह भी बुद्धि ही है। यदि कहा जाय कि हमारी बुद्धि से अमुक सज्जन विद्वान ऋषि मर्हाष की बुद्धि अच्छी है, मान्य है—तो यह निर्णय भी हमारी ही बुद्धि करती है।

यथैव कश्चित् स्वां छायां नहि लंघयितुं क्षमः,
तथैव नहि कश्चित्स्वां बुद्धिं लंघयितुं क्षमः।

कोई भी अपनी छाया नहीं डांक सकता, न अपनी बुद्धि को।

विचारस्य खण्डनमपि विचारेणैव क्रियते।

विचार का खंडन भी विचार ही करता है।

यदि कहा जाय कि 'वेद' नामक 'शास्त्र' मानवकृत नहीं है, 'अपौरुषेय,

है, तो इसका क्या प्रमाण ? यदि कोई प्रमाण कहे जायं, तो उन प्रमाणों की तौलने, जांचने, मानने, न मानने, वाली 'बुद्धि' ही है। और भी, जो लोग वेद को 'अपौरुषेय' मानते हैं वे भी कहते हैं कि 'मंत्रों' को ऋषियों ने देखा; बनाया नहीं; **ऋषयो मंत्रद्रष्टारः, न तु कर्त्तारः।** इसका अर्थ तो यही है कि ज्ञान के जो भी विषय हैं उनको मनुष्य देखते हैं, 'बनाते' नहीं। आग में लकड़ी डालदेने से जलकर राख हो जाती है––इस वास्तविक तथ्य को किसी ऋषि ने 'बनाया' नहीं; 'देखा' ही। विज्ञान के, सच्चे 'सायंस' के, जो भी तथ्य हैं, सबकी यही कथा है। और भी; 'वेद' के 'अपौरुषेयत्व' के विषय में, तथाकथित 'शास्त्रों' में ही आपस में मतभेद है । मीमांसा 'शास्' 'ईश्वर'-पदार्थ को नहीं मानता, पर 'वेद' को 'अपौरुषेय' मानता है; विपरीत इसके, न्याय–'शास्त्र' 'ईश्वर'-पदार्थ को मानता है, और वेद को 'पौरुषेय' बताता है। और भी; गीता का यह श्लोक अक्सर सुनने में आता है :

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ,

क्या कार्य है, क्या अकार्य–इसके निर्णय के लिए 'शास्त्र' प्रमाण है।

किंतु किं मे प्रमाणं स्यात् शास्त्राशास्त्रविनिर्णये ?

माना कि 'शास्त्र' से निर्णय करो; पर किस शास्त्र से ? कौन 'शास्त्र' है, कौन 'अशास्त्र' है, कौन मानने योग्य है, कौन नहीं ? इसका निर्णय कौन करे ? यहूदियों के लिए 'ओल्ड टेस्टामेण्ट', 'बाइबल' का पूर्वार्द्ध, परममान्य अपौरुषेय ब्रह्मवाक्य है; ईसाइयों के लिए 'न्यू टेस्टामेण्ट', 'बाइबल' का उत्तरार्ध, मुसलमानों के लिए कुरान, बौद्धों के लिए 'त्रिपिटक', जैनों के लिए 'जैनागम-सुत्त', इत्यादि। सभी अपने-अपने को परम महामान्य 'शास्त्र' बताते हैं। कौन निर्णय करे, सिवा अपनी 'बुद्धि' के, कि किसके पीछे चलना, किसके नहीं ? और भी; स्वयं वेदानुयायियों में बड़े मतभेद हैं; कोई

ऋग्वेदी, कोई यजुर्वेदी, कोई सामवेदी, कोई अथर्ववेदी हैं; अन्य तीन, अथर्व को बहुत अपवित्र मानते हैं; यहां तक कि 'चार वेद' की पंक्ति में से वह उठा ही दिया गया, और 'त्रिवेदी' ही भारत में मान्य रह गई; (कोई कहते हैं कि 'ईरानियों', 'आर्यों', की 'ज़िंद-आविस्ता' नामक धर्म-पुस्तक 'अथर्व-वेद' का ही रूपान्तर है) ; ऋक् और यजुः वाले, साम को भी अशुचि मानते हैं, यहां तक कि मनुस्मृति के प्रचलित पाठ में भी लिखा है,

सामवेदः स्मृतः पित्र्यः, तस्मात् तस्य अशुचिर् ध्वनिः।

(कहना कठिन है कि यह क्षेपक है या सचमुच मूल ग्रन्थ में था)। प्रत्युत इसके, गीता में कहा है," **वेदानां सामवेदोऽहं**"। इसका निर्णय कौन करे, सिवा 'बुद्धि' के ? गीता का द्वितीय अध्याय तो एकमात्र 'बुद्धि' की महिमा का गीत है। जितनी बेर 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग गीता में हुआ है, उतनी बेर केवल 'आत्मा' और 'अहं' ('मां', 'मे', 'मम') का हुआ है, और किसी शब्द का नहीं (अव्ययों को छोड़कर) ।

और भी; 'वेद-वेद-वेद' एक शब्दमात्र रह गया है। तीस करोड़ 'हिन्दू' कहलानेवालों में, क्या तीन हजार भी, क्या तीन सौ भी, ऐसे हैं जो, चारों को जाने दीजिए, एक वेद को भी समग्र, अर्थ-सहित, सांगोपांग, 'सकल्प', 'सरहस्य' जानते हैं, जैसा जानने के लिए मनु आज्ञा देते हैं ? डिंडिम बहुत है, पर 'ढोल में पोल' है। और भी देखिए। यदि हम मान भी लें कि 'वेद-शास्त्र' 'शास्त्र' है, तो वेदों में बहुतेरी बातें परस्परविरुद्ध लिखी हैं; किसको मानें, किसको न मानें ? 'शास्त्रवादी' कहते हैं कि 'शास्त्रीय' विरोधों का परिहार, शास्त्रीय' पद्धति से करके, 'शास्त्रीय'-सिद्धान्त का निर्णय करना चाहिए। ठीक है; पर कौन करे ? आपकी और हमारी और सज्जन मित्रों की 'बुद्धि' ही न ? जो दशा 'श्रुति' की ('सुनी' हुई बात की), 'वेद'-पदार्थ की, है, उससे भी अधिक बिगड़ी दशा 'स्मृतियों'

की ('याद' की हुई बातों की) और अन्य 'धर्म-शास्त्रों' की है। यहांतक कि वेदव्यासजी ने यक्ष-युधिष्ठिर सम्वाद में, युधिष्ठिर के मुख से कहलाया है,

तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्नाः,
नैको ऋषिः (स्मृतिकर्त्ता) यस्य वचः प्रमाणं;
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां;
'महाजनो' येन गतः स पन्थाः।

तर्क की कहीं समाप्ति नहीं; श्रुतियां विविध, परस्पर भिन्न; एक ही स्मृतिकार ऋषि नहीं जिसीकी बात मानी जाय; धर्म का तत्त्व तो (मनुष्य की हृदय-) गुहा में (उसकी बुद्धि के प्रेरक आत्मा के रूप में) छिपा हुआ है। जिस 'महा-जन' समूह में, जनता में, समाज में, रहना हो, वह जन-साधारण, 'लोक-मत', भूयसीय न्याय से, 'मेजारिटी-ओपिनियन', 'कस्रत-राय' से, जिस रास्ते पर चले, वही रास्ता ठीक है, धर्म्म है। 'महा-जन' शब्द का अर्थ 'महापुरुष', 'बड़ा आदमी', नहीं है। जैसा, भ्रान्ति से, बहुधा, समझा जाता है; बल्कि, 'जनता', 'जन-समूह', 'पब्लिक'; जो ही अर्थ, आज तक, गुजराती भाषा में, इस शब्द का चला आता है। ("मानव-धर्म-सारः" में, इसके समर्थक, कई पुराने संस्कृत ग्रन्थों से बहुतेरे उद्धरण दिये गये हैं)।

बुद्धि ही निर्णायक है

निष्कर्ष यह कि, कितना भी अधिक पूजित वा पूजनीय, 'शास्त्र' नामक कोई ग्रन्थ हो, जब उलझन पड़ती है तब, अन्ततो गत्वा, किसी न किसी मनुष्य की बुद्धि ही उसको सुलझाती है। 'शास्त्र' से ऊपर 'बुद्धि' है; 'बुद्धि' शास्त्र का निर्माण करती है; शास्त्र बुद्धि का निर्माण नहीं

करता। और भारतवर्ष की 'महा-जन-बुद्धि' ने निर्णय कर रक्खा है कि,

शास्ति यत् साधनोपायं चतुर्वर्गस्य निर्मलं,
तथा तद्बाधनापायं, एषा शास्त्रस्य शास्त्रता।
तस्मात्, कौन्तेय !, विदुषा, धर्माधर्मविनिश्चये,
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना।
धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्ध्या राज्ञा ततस्ततः।
बुद्धेः समवहारोऽयं, कविभिः संभृतं मधु।
(म० भा० शां० अ० १४१; १४२)
उत्सर्गेणापवादेन, ऋषिभिः कपिलादिभिः,
अध्यात्मचिंतामाश्रित्य, शास्त्राण्युक्तानि, भारत! (अ० ३६०)

वही सच्चा शास्त्र है जो मनुष्य को चतुर्वर्ग, अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पुरुषार्थों के साधन का उपाय, और उनके बाधकों का अपाय (दूर करने का प्रकार) सिखावे, 'शासै'। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इसका निर्णय निश्चय, बुद्धि से करके, कृतात्मा कृतबुद्धि आत्मवान् स्वावलम्बी स्वयं-प्रज्ञ मनुष्य को लोक-व्यवहार निबाहना चाहिए। राजा का कार्य है कि बुद्धिसंगत बुद्धियुक्त 'धर्म' बतावै, जिससे प्रजा का 'धारण' हो, सब प्रकार का भला हो,

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।

इसलिए कपिल आदि महर्षियों ने 'अध्यात्मज्ञान' को, जीवात्मारूपी मनुष्य के चित्त और देह की प्रकृतियों के ज्ञान को, अपनी बुद्धि में रखकर, शास्त्र रचे, और उनमें उत्सर्ग अर्थात् सामान्य नियम, और अपवाद अर्थात् उत्सर्गों के बाधक विशेष नियम भी कहे। जैसे मधुमक्खी शहद इकट्ठा करती है, वैसे कवियों की बुद्धियों ने शास्त्र के तत्त्व एकत्र कर दिये हैं। ऐसे शास्त्र का, 'बुद्धि-निश्चित' सिद्धान्त यह है कि,

देश-काल-निमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते;
अन्यो धर्मः समस्थस्य, विषमस्थ चापरः;
न त्वेवैकान्तिको धर्मः, धर्मोहि-आवस्थिकः स्मृतः
(म० भा० शां०)

देश-काल-निमित्त के भेद से धर्म में भेद होता है; धर्म, ऐकान्तिक, आत्यंतिक, एकाकार, एकरूप, अत्यंत अटल अचल अपरिवर्त्ती नहीं है; प्रत्युत, आवस्थिक है, अवस्था बदलने से बदलता रहता है। प्रत्यक्ष ही, फौजी सिपाही का धर्म दूसरा, किसान का दूसरा, अध्यापक का दूसरा, दूकानदार का दूसरा; एक ही आदमी का, अच्छे दिनों में दूसरा, मुसीबत के दिनों में दूसरा। किस अवस्था में क्या धर्म है, इसका निर्णय, सात्विकी बुद्धि ही ठीक-ठीक कर सकती है। ऐतरेय आरण्यक में आख्यानक है कि, जब ऋषि लोग इस लोक से जाने लगे तब मनुष्य ने उनसे पूछा कि अब हम लोगों को, कठिनाई के समय में, उपदेश देनेवाला ऋषि कौन होगा; तब ऋषियों ने उनको 'तर्क' दिया, और कहा कि 'यही तुम लोगों का ऋषि होगा।' अर्थात् तर्क करना बुद्धि का काम है, अपनी बुद्धि पर भरोसा करो, अपने पैरों पर खड़े हो, दूसरों का ही मुँह मत ताकते रहो, यह मत चाहो कि पुराने लोग सदा तुमको गोद में लिये रहें, अपने लिए समयानुसार, नये-नये शास्त्र रचते रहो। आखिर, यूरोपीय मानव, जो भी ब्रह्मदेव के संतान हैं जैसे भारतीय, पर अधिक बुद्धिमान, नये-नये आश्चर्यकारी शास्त्र बना ही रहे हैं, जिनके आगे यह सब होम-हवन-यज्ञ आदि का कर्मकाण्ड निहायत छिछोरा, थोथा, लड़कों का खेल जान पड़ता है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किं ?
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ?

जिसको स्वयं प्रज्ञा नहीं, बुद्धि नहीं, जो विवेक विचार से शास्त्र को पढ़ और जांच नहीं सकता, उसको शास्त्र से क्या लाभ होगा ? जिसको आंख नहीं, वह आईना लेकर क्या करेगा ? यह पुराना वाक्य भी परम शास्त्र ही है।

यज्ञों से विश्वशांति नहीं होगी

इस दृष्टि से, ऊपर कहे 'अवान्तर प्रश्नों' का उत्तर क्रमशः यों होता है—(३) शास्त्र क्या वस्तु है ? 'सात्विक बुद्धि' से निर्णीत, निश्चित, जीवनोपयोगी, उपकारक बातों का प्रतिपादक ग्रन्थ 'सात्विक शास्त्र' है। 'राजस-तामस बुद्धि' से प्रतिपादित, जीवन-व्यवहार-बाधक, 'राजस-तामस शास्त्र'। (४) 'शास्त्र' और 'बुद्धि' में जब विरोध हो, तब 'बुद्धि ही प्रबल ठहरती है, (किसी न किसी की; अन्ततो गत्वा, मानने या न माननेवाले की)। (५) यदि 'शास्त्र' प्रबल माना जाय, तो भी मुख्य प्रश्न (१) का उत्तर यही होता है, कि कोई भी सर्वमान्य निर्विवाद शास्त्र ऐसा नहीं कहता कि इस प्रकार के होमों-हवनों-यज्ञों से 'विश्व-शान्ति' सिद्ध होगी, जो ही 'विश्व-शान्ति' इनका लक्ष्य घोषित किया गया। मैं स्वयं कर्मकांड के ग्रन्थ अधिक नहीं देख पाया हूं, पर जानकार पंडितों से दर्यापत करने से मालूम हुआ कि जिस प्रकार के होम-हवनादि आजकाल किये-कराये जा रहे हैं, उनके लिए, प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में कहीं विधि-विधान नहीं है; **"अर्थस्य पुरुषोदासः"** की नीति से, सभी आदमी, राष्ट्राधीश, जमींदार, काश्तकार, पूंजीपति, डाक्टर, वैद्य, वकील, दूकानदार, वैसे ही कर्मकांडी लोग, अपनी जीविका, अपने रोजगार की वृद्धि चाहते हैं, और अक्सर अनुचित रीतियों से वृद्धि करते हैं; सो कर्मकांडी लोगों ने, इसी हेतु से, बहुतसे

BEST COPY AVAILABLE

देश-काल-निमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते;
अन्यो धर्मः समस्थस्य, विषमस्थ चापरः;
न त्वेवैकान्तिको धर्मः, धर्मोहि-आवस्थिकः स्मृतः
(म० भा० शां०)

देश-काल-निमित्त के भेद से धर्म में भेद होता है; धर्म, ऐकान्तिक, आत्यंतिक, एकाकार, एकरूप, अत्यंत अटल अचल अपरिवर्त्ती नहीं है; प्रत्युत, आवस्थिक है, अवस्था बदलने से बदलता रहता है। प्रत्यक्ष ही, फौजी सिपाही का धर्म दूसरा, किसान का दूसरा, अध्यापक का दूसरा, दूकानदार का दूसरा; एक ही आदमी का, अच्छे दिनों में दूसरा, मुसीबत के दिनों में दूसरा। किस अवस्था में क्या धर्म है, इसका निर्णय, सात्विकी बुद्धि ही ठीक-ठीक कर सकती है। ऐतरेय आरण्यक में आख्यानक है कि, जब ऋषि लोग इस लोक से जाने लगे तब मनुष्य ने उनसे पूछा कि अब हम लोगों को, कठिनाई के समय में, उपदेश देनेवाला ऋषि कौन होगा; तब ऋषियों ने उनको 'तर्क' दिया, और कहा कि 'यही तुम लोगों का ऋषि होगा।' अर्थात् तर्क करना बुद्धि का काम है, अपनी बुद्धि पर भरोसा करो, अपने पैरों पर खड़े हो, दूसरों का ही मुँह मत ताकते रहो, यह मत चाहो कि पुराने लोग सदा तुमको गोद में लिये रहें, अपने लिए समयानुसार, नये-नये शास्त्र रचते रहो। आखिर, यूरोपीय मानव, जो भी ब्रह्मदेव के संतान हैं जैसे भारतीय, पर अधिक बुद्धिमान, नये-नये आश्चर्यकारी शास्त्र बना ही रहे हैं, जिनके आगे यह सब होम-हवन-यज्ञ आदि का कर्मकाण्ड निहायत छिछोरा, थोथा, लड़कों का खेल जान पड़ता है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किं ?
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ?

जिसको स्वयं प्रज्ञा नहीं, बुद्धि नहीं, जो विवेक विचार से शास्त्र को पढ़ और जांच नहीं सकता, उसको शास्त्र से क्या लाभ होगा ? जिसको आंख नहीं, वह आईना लेकर क्या करेगा ? यह पुराना वाक्य भी परम शास्त्र ही है।

यज्ञों से विश्वशांति नहीं होगी

इस दृष्टि से, ऊपर कहे 'अवान्तर प्रश्नों' का उत्तर क्रमशः यों होता है—(३) शास्त्र क्या वस्तु है ? 'सात्विक बुद्धि' से निर्णीत, निश्चित, जीवनोपयोगी, उपकारक बातों का प्रतिपादक ग्रन्थ 'सात्विक शास्त्र' है। "राजस-तामस बुद्धि' से प्रतिपादित, जीवन-व्यवहार-बाधक, 'राजस-तामस शास्त्र'। (४) 'शास्त्र' और 'बुद्धि' में जब विरोध हो, तब 'बुद्धि ही प्रबल ठहरती है, (किसी न किसी की; अन्ततो गत्वा, मानने या न माननेवाले की)। (५) यदि 'शास्त्र' प्रबल माना जाय, तो भी मुख्य प्रश्न (१) का उत्तर यही होता है, कि कोई भी सर्वमान्य निर्विवाद शास्त्र ऐसा नहीं कहता कि इस प्रकार के होमों-हवनों-यज्ञों से "विश्व-शान्ति' सिद्ध होगी, जो ही 'विश्व-शान्ति' इनका लक्ष्य घोषित किया गया। मैं स्वयं कर्मकांड के ग्रन्थ अधिक नहीं देख पाया हूं, पर जानकार पंडितों से दर्याफ्त करने से मालूम हुआ कि जिस प्रकार के होम-हवनादि आजकाल किये-कराये जा रहे हैं, उनके लिए, प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में कहीं विधि-विधान नहीं है; **"अर्थस्य पुरुषोदासः"** की नीति से, सभी आदमी, राष्ट्राधीश, जमींदार, काश्तकार, पूंजीपति, डाक्टर, वैद्य, वकील, दूकानदार, वैसे ही कर्मकांडी लोग, अपनी जीविका, अपने रोजगार की वृद्धि चाहते हैं, और अक्सर अनुचित रीतियों से वृद्धि करते हैं; सो कर्मकांडी लोगों ने, इसी हेतु से, बहुतसे

BEST COPY AVAILABLE

नये-नये कर्मकांड मनमाने गढ़ लिये हैं, और गढ़ते जाते हैं। पर इन मिथ्या प्रकारों से अब बहुत दिन काम चलता नहीं देख पड़ता; बेकारी, बेरोजगारी, दूर करने के, सबको पर्याप्त अन्न-वस्त्र मिलने के, नये और अच्छे सच्चे प्रकार पहिचानिए और चलाइए। सच्ची **'कर्मणा वर्णः'** की व्यवस्था में सब मौजूद हैं।

महाभारत के ऐसे युद्ध के निवारण, कौरव-पांडवों और उनके सहायकों में शान्ति-स्थापन के लिए, साक्षात् वर्तमान, सर्वज्ञ, सर्व शास्त्र-कारक महर्षियों ने, अन्य प्रकार के बहुत यत्न किये, पर अन्न-घी के यज्ञ नहीं किये। (६) यदि बुद्धि प्रबल मानी जाय, जैसा मानना (ऊपर कही युक्तियों से) अनिवार्य है, तब यही उत्तर होता है कि "वर्तमान अवस्था में, जब लाखों प्राणी भूख से मर रहे हैं, तब अन्न और घी को आग में जलाना, यह पाप ही है।" 'शास्त्र' ही का, सात्विक-बुद्धि-निर्णीत, सद्बुद्धि-प्रेरित, कथन है,

"परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नं"।

चारों ओर भूखे आदमी पड़े हैं, उनको न देकर आग में अन्न फेंकना, यह तो तीव्र 'पर-पीड़न' है।

अन्य शंका

शास्त्रवादियों की कुछ अन्य दलीलों का भी निवारण कर देना उचित होगा। एक 'शास्त्रवादी' सज्जन ने लिखा है कि "आर्यसमाजी भाई भी अग्निहोत्र का बड़े बल से प्रचार करते हैं।" किंतु जहां तक मुझे मालूम हुआ, किसी आर्यसमाजी संस्था या व्यक्ति ने, दिल्ली, कानपुर, प्रयाग आदि के 'यज्ञों' का समर्थन नहीं किया, न उनमें किसी प्रकार का भाग लिया। विपरीत इसके, कुछ आर्यसमाजी सज्जनों का छपाया हुआ एक

पत्र मेरे पास आया, जिसमें इन्होंने इन 'यज्ञों' पर आपत्तियां कीं। आर्य-समाज की 'अग्निहोत्र-विधि' दूसरी है; सनातनधर्मियों की दूसरी; आर्यसमाजी सज्जन जो दैनंदिन हवन करते हैं वह तो प्रायः उसी हेतु और उद्देश्य से करते हैं, जिससे लोग अगुरु, लोहबान, गुग्गुल आदि की चुटकी चार अंगारों पर रखकर घर में घुमाते हैं, कि उसके सुगंध और धूएं से हवा साफ हो। उससे 'विश्व-शांति' होजायगी, यह उनका विश्वास नहीं; न वे हजारों मन अन्न और घी आग में जलाते हैं। 'शास्त्र-वादी' सज्जन लिखते हैं, "वेदोक्त यज्ञ में, वेदोक्त मंत्रों का उच्चारण करते हुए, भगवान अग्निदेव के मुख में जो आहुति दी जाती है, इसमें तो पाप की कल्पना हो ही नहीं सकती। वेद-स्मृति-पुराणों से प्रतिपादित जो मार्ग हमारे लिए ठहरे, हमको मानना ही चाहिए। जिस यज्ञ को आप बड़ा पाप कहते हैं वह बड़ा पाप किस शास्त्र में किस प्रकार वर्णित है, कृपया लिखिए।" तो देखिए, स्वयं भगवान् मनु कहते हैं,

विद्या-तपः समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु,
निस्तारयति दुर्गात् च, महतश्चैव किल्बिषात्;
नश्यन्ति हव्यकव्यानि, नराणां अविजानतां,
भस्मी भूतेषुविप्रेषु मोहाद् दत्तानि दातृभिः। (म० ३-९७-९८)

विद्या और तपस्या से सम्पन्न जो सच्चे ब्राह्मण हैं, उनके मुखरूपी अग्नि में जो हवन किया जाय, वही दुर्गों से, आपत्तियों से और बड़े पापों से बचाता है; तपो-विद्या-शून्य, भस्मतुल्य, राखी के ढेर ऐसे ब्राह्मण-नाम-धारियों को तादान मूढ़ आदमी देते हैं, वह दान सब नष्ट हो जाता है, बल्कि पाप बढ़ाता है।

न स्कंदते, न व्यथते, न विनश्यति कर्हिचित्,
वरिष्ठं अग्निहोत्रेभ्यो, ब्राह्मणस्य मुखे हुतं। (म० ७. ८४)

योग्य विद्वान, ज्ञानोपजीवी, तपोविद्या-युक्त अध्यापकवृत्तिवाले मनुष्य के (जो ही सच्चा, कर्मणा, 'ब्राह्मण' पदार्थ है) मुख में 'हुत', अन्न का हवन करना, उसको भोजन देना, अन्न-वस्त्रादि से उसका पोषण करना, जिसमें वह सज्ज्ञान का प्रचार, शांत स्वस्थ चित्त से, करे—सब अग्निहोत्रों से यह 'वरिष्ठ' है, बहुत बहुत अच्छा है; यह कभी व्यर्थ नहीं जाता, कभी बिगड़ता नहीं। और भी,

शक्तः, परजने दाता, स्वजने दुःखजीविनि,
मध्वापातो विषास्वादः, सः धर्म-प्रतिरूपकः।
(म० अ० ११. ९)

शक्तिमान्, सम्पन्न, मनुष्य, अपने दुःखी दरिद्र असम्पन्न बन्धुबान्धव सज्जनों को न देकर, यदि 'पर-जन' को, परायों को, देता है, तो यह धर्म नहीं है, प्रत्युत धर्म का प्रतिरूपक है, झूठी नकल है, दम्भ है, पाप है; ऊपर से तो मधु, शहद, के ऐसा जान पड़ता है, पर भीतर विष ही होता है। ऐसे कार्यों के भीतर प्रायः छिपी हुई कोई गूढ़ स्वार्थी वासना, झूठा विश्वास, लोभ-लालसा रहती है, चाहे 'स्वर्ग-सुख' की ही हो, चाहे इसी लोक में 'वाह-वाही' की, और 'हुकूमत के रस' की, कि, हमारे इशारे पर हजारों आदमी दौड़ते हैं। एक विद्यमान हिन्दी कवि ने बहुत अच्छा कहा है, "दस बोतलों का नशा है इस वाह-वाह में"। जबतक जीव शरीर में बंधा है, तबतक लोकैषणा, वित्तैषणा, दार-सुतैषणा, उसको लगी ही रहती है; पर, निवृत्तिमार्ग पर पैर रक्खे हुए जीव को, इन्हें, विपरीत क्रम से, पहिले दार-सुत की, तब वित्त की, तब लोक की एषणा को अधिकाधिक छोड़ते ही जाना चाहिए; संन्यासी को लोकैषणा, मान-प्रतिष्ठा की चाह, सबसे अधिक सताती है, ऐसा उपनिषदों में सूचना की है। दाम्भिकों का तो कहना ही क्या है, सच्चे भी, निवृत्तिमार्ग

पर चलने का यत्न करनेवाले भी, संन्यासी को, दारसुत-एषणा भी, अपना रूप बदलकर, शिष्य-एषणा, पादपूजक-एषणा, मंडली-ईशता-एषणा, के रूप में घेरती है, और बहुधा गिरा ही देती है। वित्तैषणा भी मठ-सम्पत्ति-एषणा का रूप धारण कर लेती है।

लकीर के फ़कीर

प्रस्तुत विषय में, 'अग्निदेव' तो नितरां 'पर-जन' हैं।' ऐसे यज्ञों के याजक, प्रेरक, अग्रणी, प्रायः ऐसे ही सज्जन देखे जाते हैं, जिन्होंने सांसारिक जिम्मेदारियों से अपनेको बचा लिया है; इनमें से कोई-कोई संस्कृत 'शास्त्रों' के बहुत अच्छे विद्वान् भी हैं। और **"नहि कश्चित् क्षणमपि जातुतिष्ठति अकर्मकृत्"**, बिलकुल चुप तो बैठा जाता नहीं, कुछ करने की उत्सुकता इनको होती ही है; पर, खेद है कि, व्यवहार-शोधक, समाज-बोधक, संघतापोषक, स्वावलम्बवर्धक, सज्ज्ञान का प्रचार, तो ये विद्वान करते नहीं; मूढ़ग्राहों को ही और दृढ़ करते हैं, 'लकीर के फ़कीर' बने हैं, 'लकीर ही पीटते' हैं; और अपनी और जनता की शक्ति का, श्रम का, धन का, समय का, बुद्धि का भी, अपव्यय करते-कराते हैं। काशी के किन्हीं-किन्हीं घाटों पर, दस-दस बीस-बीस आदमियों की टोलियां शाम को बैठ जाती हैं, और "हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे" जोर-जोर से चिल्ला-चिल्लाकर रटते-रटते सवेरा कर देती हैं; मुझसे उन घाटों के पड़ोस में रहनेवाले आदमियों ने आकर शिकायत की है, कि, 'रात का सोना हम लोगों को हराम होगया है; ये लोग तो बेकार आदमी हैं, दिन को कहीं सत्र वगैरा में खा लेते हैं और सोते हैं, रात को धर्मध्वजता दिखाते हैं, और हम लोगों को तकलीफ देते हैं; क्या म्युनिसिपैलिटी की, या मजिस्ट्रेट की, ओर से इसको रोकने का प्रबन्ध

नहीं हो सकता ?' मैं उनसे यही कह दे सकता था कि 'आप स्वयं म्युनिसिपैलिटी या मजिस्ट्रेट से पूछिए; यदि मेरी राय पूछते हो तो यह है कि अपने धर्माधिकारी पंडितों से कहिए कि जनता को उचित शिक्षा दें, कि 'ऐसा रटना व्यर्थ है।' विष्णुपुराण में लिखा है कि

स्वधर्म-कर्म-विमुखाः कृष्ण-कृष्णेतिराविणः,
ते हरेर्द्वेषिणो मूढाः, धर्मार्थं जन्म यद् हरेः ।

इस प्रकार से दुनिया को दिखाने के लिए, चिल्लाती हुई 'रामरट' में, वा गांव-देहात के 'टोना-टोटका' और हिन्दू मन्दिरों के पुजारियों और मुसलमानी तकियों और मकबरों की झाड़-फूंक में, और ऐसे नुमाइशी होम-हवनों में, तत्त्वतः क्या भेद है ? मेरी समझ में तो यही भेद है कि इन यज्ञों में भारी आडम्बर-आटोप होता है, बड़ा मेला लगता है, तमाशाई लोग टूटे पड़ते हैं, चारों ओर मल-मूत्र की गंदगी फैलती है, हैजा आदि बीमारी का भी प्रकोप होता है, न रामजी मिलते हैं, न विश्व-शांति होती है। इस प्रकार की अन्धश्रद्धा के अन्धाधुन्ध पोषण का ही यह फल है कि साधारण 'हिन्दू' दास की 'बुद्धि' ऐसी नष्ट हो गई है कि, वैसी ही अन्धश्रद्धा से वे 'गाजीमियां की कबर' और 'इस पीर की तकिया' और 'उस औलिया की दरगाह' पर भी मुंह के बल गिरे पड़ते हैं।

सच्चे हृदय से सच्ची प्रार्थना, परमात्मा, अन्तरात्मा, जगदात्मा से, एकान्त में की जाती है, और उसका सुफल, कुछ न कुछ, होता ही है।

विश्व-शांति या बुद्धि-भ्रान्ति ?

हे भाई ! महाभारत की कथा देखिए। श्वेतकि राजा ने, बारह वर्ष तक, निरन्तर, अग्निदेव को इतना घी और अन्न पिलाया-खिलाया कि 'अग्नि' को 'मन्दाग्नि' 'अरुचि' का रोग होगया, यकृत् प्लीहा बढ़ गई, स्यात् कामला रोग की भी नौबत आई, मुंह और सब शरीर पीला होगया,

पाण्डुवर्णो, विवर्णश्च, न यथावत् प्रकाशते,
अरुचिश्चाभवत् तीव्रा, विकारः समजायत।

पितामह, सबके परदादा जी, ब्रह्मदेव के पास जाकर अग्निदेव रोना रोये। उन्होंने कहा, "बहुत घी और अन्न पीने-खाने का यह फल है; क्यों ऐसा किया ? अब लकड़ी और चर्बी चबाओ, यही दवा है; परहेज करो।" सूखे-साखे, दुबले-पतले, पीले अग्निदेव ने कृष्ण और अर्जुन की खुशामद की, "तुम इन्द्र के बादल पानी को दूर रक्खो, तो मैं खाण्डव वन को, प्राणियों सहित, खाऊं-पीऊं।" "अच्छा, पर मिहनताना क्या दोगे ?" तो "सर्वसामग्रीयुक्त अद्वितीय रथ, गांडीव धनुष, और अक्षय तूणीर, अर्जुन को; सर्वचूर्णनी कौमोदकी गदा, तथा सर्वास्त्र-शस्त्र-प्रमाथी वज्रनाभ चक्र, कृष्ण को।" बस, पन्द्रह दिन में, (अन्य अध्याय में इक्कीस लिखा है) अग्नि ने खांडव वन जला डाला, और चंगे हो गये। अग्नि को बहुत अन्न-घी खिलाने से उलटा फल होता है।

हे भाई ! जरा विचारिए ! आप अग्निदेव का, अन्न और घी के अपव्यय से भी, क्या तर्पण आराधन करने चले हो ! कृष्ण और अर्जुन के बल पर तो उन्होंने एक छोटे-से जंगल झाड़ी को, इसी दिल्ली के पास पांच हजार वर्ष पहिले, दो या तीन सप्ताह में जलाया। आज पांच वर्ष से, हिटलर, चर्चिल, मुसोलिनी, स्टैलिन, तोजो, च्यांगकाईशेक की सहायता से, अग्निदेव, पचासों लाख मनुष्यों की चर्बी, कोटियों कोटि स्वर्णमुद्राओं की तैयारी की महाराजधानियों की अपरिमेय सम्पत्ति, लोहा, लकड़ी, कोयला, तेल, खाते-पीते चले आ रहे हैं; और तृप्त नहीं होते। आप उनको इस दस-बीस हजार मन अन्न और घी की घूस देकर खुश कर लोगे ?

होम-हवन-यज्ञ के करने-करानेवालों ने यही डिंडिम किया था कि 'विश्व-शान्ति' के लिए यह हो रहा है। क्या 'विश्व-शान्ति' हुई ? क्या अग्निदेव को आप लोग राजी कर सके ? क्या उन्होंने मानव-वसा और पृथ्वी-तैल ('पेट्रोलियम') से अपनी जिह्वाएं, जो नगरों से हजारों फुट ऊपर तक आकाश में लपलपाती हुई दौड़ती हैं, हटा लीं ? आपके अन्न-घी-यज्ञों को समाप्त हुए महीनों होगये, पर विश्व-व्यापी चर्बी-सम्पत्ति-यज्ञ, महा नरमेध, प्रति दिन बढ़ते हुए वेग से चल रहा है। दूसरे देशों की कथा जाने दीजिए। भारत में ही, अग्निदेव ने, आपकी सेवा-शुश्रूषा से प्रसन्न होकर, आपके यज्ञों के बाद, १४ अप्रैल को बम्बई में, कैसा ताण्डव किया!, हजारों मनुष्यों को जान से मारा वा घायल किया, और 'अरबों' (सैकड़ों कोटि) रुपयों की सम्पत्ति को चाट गये। और छोटे-मोटे 'अग्निकांडों' की खबर छपती ही रहती है; लाखों रुपयों का, कभी अन्न, कभी रुई, कभी तेल स्वाहा होता ही रहता है।

एक सूक्ष्म तर्क

एक 'शास्त्रवादी' लिखते हैं कि, "जब भूख से लाखों प्राणी मर रहे हैं, ऐसे ही कठिन समय में 'शास्त्र' ऐसे यज्ञों का प्रतिपादन करता है; उन सर्वज्ञ महर्षियों की बात ठीक मानी जाय या आपकी ? जैसे अकाल में खेत बोते समय, मिट्टी में गोधूम आदि बखेरते हुए देखकर, कोई अबोध बालक कहे, 'मेरे पिता अन्याय कर रहे हैं', इसका क्या उपाय है ?"

इसपर यह वक्तव्य है कि, पहिले तो इसीका ठीक पता नहीं कि ऐसे यज्ञों का विधान किसी प्राचीन महर्षि ने लिखा; हां आजकल सभी काषायधारी, वेशधारी लोग 'महर्षि' 'महात्मा' कहे जाते हैं—

यह बात न्यारी। दूसरे, यदि किन्हीं महर्षियों ने लिखा भी, तो, जिन्होंने यह यज्ञ-विधान पोथियों में लिखा, वे 'सर्वज्ञ' महर्षि थे, इसका क्या प्रमाण ? और; अकाल के समय में भी खेत में गेहूँ बोने से पीछे अच्छी फसल हुई, इसका तो प्रत्यक्ष प्रमाण, मनुष्यों को, हजारों वर्ष से प्रति वर्ष मिलता चला आ रहा है; ऐसे 'यज्ञ' से 'विश्व-शान्ति' हुई, इसका एक भी प्रत्यक्ष प्रमाण मनुष्यों को कहीं मिलता है ? **"प्रत्यक्ष-परा प्रमितिः", "प्रत्यक्ष-पराणि प्रमाणानि", "नहि श्रुतीनां शतं अपि घटं पटयितुं ईष्टे।"** सब प्रमाणों की जड़ बुनियाद 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है; जब पहिले, महानस, अग्नि, धूम, पर्वत प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, तब **"पर्वतो वह्निमान्, धूमात्"** यह अनुमान चलता है। हमारे सामने घट रक्खा है, हम देख रहे हैं कि यह घट है, यदि सौ श्रुति, सौ वेदवाक्य, आकर कहें कि यह घट नहीं पट है, तो उनकी यह बात सुनी-मानी नहीं जा सकती। वाचस्पति मिश्र ऐसे परमप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान ने, शंकर-भाष्य की अपनी टीका 'भामती' में यह वाक्य लिखा है। कोई 'शास्त्र' आठ प्रकार के प्रमाण मानते हैं, कोई पांच, कोई चार, कोई तीन, कोई दो, कोई एक ही। ऐसा कोई शास्त्र नहीं जो प्रत्यक्ष प्रमाण को न मानता हो। 'नास्तिक' चार्वाक-दर्शन एक ही प्रमाण को मानता है, और वह है 'प्रत्यक्ष' प्रमाण। मनु (१२०. १०५) में लिखा है:

प्रत्यक्षं, चानुमानं च, शास्त्रं च विविधागमं,
त्रयं सुविदितं कार्यं, धर्मशुद्धि अभीप्सता।
केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिश्चयः;
युक्तिहीन विचारे तु धर्महानिः प्रजायते।

(१२–११३, कुल्लूक–टीका)। पहिले प्रत्यक्ष, तब अनुमान (तर्क, युक्ति, बुद्धि), तब विविध शास्त्रों से जांचने से ही शुद्ध धर्म का निश्चय

हो सकता है; केवल 'शास्त्र' का आसरा करने से, युक्तिपूर्वक विचार किये बिना, धर्म की हानि होती है। वेदव्यासजी ने महाभारत में लिखा है,

सर्वः सर्वं न जानाति, सर्वज्ञो नास्ति कश्चन्,

सब ज्ञान किसी एक मनुष्य के पास नहीं ही है; सचमुच 'सर्वज्ञ' कोई भी नहीं है।

पुराने समय में भारत में, तथा चीन, ईरान, ग्रीस, रोम आदि 'पवित्र' देशों में किस प्रकार के 'सर्वज्ञ' महर्षि रहे, यह तो हमको निश्चय से मालूम नहीं; पर आजकाल हमारी आंख के सामने यूरोप अमेरिका में, सर्वज्ञ नहीं तो बहु-ज्ञ महर्षि प्रत्यक्ष हो रहे हैं, जिनके विज्ञान के बल से मनुष्य, स्थल-जल-अनिल तीनों में अप्रतिहतगति से महावेग से दौड़ रहे हैं; आजकाल तो प्रत्यक्ष महर्षि ये ही हैं जो **"श्रुति-प्रत्यक्ष-हेतवः"** सुनी बातों को, पुराणों की, और 'सहस्ररजनी चरित्र' (अलिफ-लैला) की, बातों को, कर दिखाते हैं, और अन्न-घी के यज्ञों में ही मग्न रहनेवालों के ऊपर राज करते हैं।

यज्ञ की कर्तूत

'शास्त्र-वादी' सज्जन ने गीता के अ० ३, श्लोक १४ का हवाला दिया है; और **"अन्नाद् भवन्ति** . . . . ." ये दो शब्द भी लिख दिये हैं। यह भी लिखा है कि, "अनेक संस्कृत भाष्य मैंने देखे; महात्मा तिलक-कृत गीतारहस्य भी; सबने एक मत से अग्नि में हवन करना ही अर्थ किया है।" अच्छा, माना, पर उस श्लोक को पूरा पढ़िए,

यज्ञाद् भवति पर्जन्यः; पर्जन्याद् अन्नसम्भवः,
अन्नाद् भवंति भूतानि, यज्ञः कर्मसमुद्भवः।

कर्म से, हाथ-पैर चलाने से, यज्ञ होता है; यज्ञ से पर्जन्य, बादल;

बादल से अन्न; अन्न से भूतानि, प्राणी, मनुष्य, जीवजन्तु। सो आप मान सकते हैं कि आपके ही यज्ञ से बादल हुआ; पर अन्न तो नहीं हुआ। मार्च मास, १९४४ ई० के अन्त में, बहुत जोर से पानी के साथ ओला-पत्थर भी बरसा, जिसकी चर्चा कृष्ण ने गीता में नहीं की है; और ऐसे कुसमय गिरा कि जो अन्न खेत में खड़ा था वह भी नष्ट होगया। यह हुई 'यज्ञ' की कर्तूत। यज्ञ-संचालकों ने 'विश्वशान्ति' का डिंडिम किया; हुई करका-क्रान्ति और अन्न-नाशजनित अधिक अशान्ति। 'शास्त्र' के तात्त्विक आशय और प्रयोग में भ्रान्ति का यह दुष्फल है।

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह,
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति; यथा इन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्
(निरुक्त)

होम हवन करनेवाले सैकड़ों **'ऋत्विक्'** सज्जन, जो दिल्ली, कानपुर आदि में एकत्र हुए, उनकी तपो-विद्या में क्या योग्यता थी, इसका मुझे निजी ज्ञान तो नहीं है, पर काशी के ही कई पण्डितों से जो सुना वह कुछ सन्तोषकारक नहीं था।

'शास्त्रवादी' सज्जनों ने एक बहुत बारीक तर्क किया है। लिखते हैं कि "गीता के चतुर्थ अध्याय में अनेक प्रकार के यज्ञ वर्णन किये हैं, **'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः'**· · ·', और सबसे श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ बताया है, **'ब्रह्मार्पणं, ब्रह्महविः'**· · ·'। परन्तु ज्ञानयज्ञ गौण यज्ञ है; मुख्य यज्ञ वही है जो प्रत्यक्ष अग्नि में वेदमंत्रों से आहुति दी जाय। · · ·सबसे श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ कहा है, किन्तु उस यज्ञ को उपमान बनाया है, जिसको आप पाप कहते हैं। · · · जब किसी बालक को सिंह की उपमा दी जाती है, **"सिंहो माणवकः"** तब बालक उपमेय है, सिंह उपमान है; उपमान में, उपमेय से, अधिकता, निश्चय से, स्वीकार करनी होती है।"

जिन सज्जन ने यह तर्क किया है, वे निस्सन्देह विद्वान् हैं, संस्कृत ग्रन्थों पर परिश्रम किये हैं, पर उनके विचारों को पढ़कर यह अनुमान होता है कि उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के साथ-साथ, यूरोपीय इतिहास के चुने-चुने, थोड़े-से भी, प्रसिद्ध ग्रंथों की ओर दृष्टि नहीं डाली। श्लोक प्रसिद्ध है, महाभारत में, तथा अन्य स्थलों में भी, मिलता है।

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेद्;
बिभेति अल्पश्रुताद् वेदो मां अयं प्रतरिष्यति।

'वेद' के तात्त्विक अर्थ को, 'इतिहास' और 'पुराण' के ज्ञान से उपबृंहित करके, समझने का यत्न करे, तभी ठीक समझेगा। जो अल्प-श्रुत हैं, बहु-श्रुत नहीं हैं, इतिहास का, पुराण का, विविध शास्त्रों का, ज्ञान नहीं रखते, उनसे 'वेद' डरता है, कि ये 'मेरे अर्थ का अनर्थ कर डालेंगे, मुझको धोखे में डाल देंगे'। यूरोप में भी, ईसाई मत के भीतर सैकड़ों सम्प्रदाय, परस्पर कलहायमान, समय-समय पर, उत्पन्न होते रहे हैं; जैसे 'हिन्दू' धर्म के भीतर; उनके विद्वान भी, ऐसी ही सूक्ष्म दलीलों से, बाल की खाल निकालते हुए, एक-दूसरे के मतों पर आक्षेप करते रहे; और, जबानी खंडन-मंडन करते-करते, हाथ-पैर से, शस्त्रास्त्र से परस्पर मारण-दारण करने लगते थे। भारत के इतिहास में भी, बौद्ध, जैन, कुमारिल, शंकर आदि की 'दिग्विजय' यात्राओं के संबंध में ऐसी ही किंवदन्ती चली आती हैं, कि जो पक्ष दुर्बल पड़ता था उसको खौलते तेल के कटाह में डाल देते थे, सूली पर चढ़ा देते थे, इत्यादि। यूरोप का इतिहास तो दूर रहा, भारत के भी, मुसलमानी राज से पहिले के, हिन्दू-राज के इतिहास की ओर हिन्दुओं का ध्यान नहीं गया, न अब भी, संस्कृतविद्वन्मंडली में, जाता है। पर, यूरोप के प्रामाणिक इतिहास से यह जान पड़ता है कि मतभेद और विवाद-जनित विद्वेष से, साम्प्रदायिकों ने, अपने-अपने

सहायक राजाओं के द्वारा हजारों विरोधियों की हड्डियां, एक-एक करके, जीते जी तुड़वाईं, हजारों को जिन्दा जला डाला, और तरह-तरह की यातनाओं से मरवा डाला; तो भारत में भी ऐसा होना अजब नहीं; और हुआ ही; शंकर के साथ, सुधन्वा राजा, सेना सहित चलते थे, उनके संबंध में भी, तथा मगध के गुप्त वंश के सम्राट् स्कंदगुप्त के भी सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है,

आसेतोः, आहिमाद्रेश्च, बौद्धान् आवृद्धबालकान्,
यो न हंति स हंतव्यः—भृत्यान् एवं सः आदिशत्।

किन्तु इन सूखी कठहुज्जतों से, जनसाधारण का, प्रजा का, न यूरोप में कोई उपकार हुआ, न भारत में; प्रत्युत, बहुत अपकार हुआ, अन्धश्रद्धा, मूढ़ग्राह, धर्माभास ही बढ़ते-फैलते गये, हजारों-लाखों के प्राण गये, धन-जन का बहुत विनाश हुआ। यदि यह सब मनोबल और देहबल प्रजा के उत्कर्ष के कामों में लगाया जाता, तो उनके प्रत्येक जीवन के अंग में कितनी शोभा और समृद्धि आगई होती; सारा भू-तल सुन्दर भवनों से सुशोभित, हराभरा, लहलहाता उद्यान हो जाता।

सबसे बढ़कर आत्मज्ञान

अस्तु। उक्त सूक्ष्म तर्क का तो अर्थ यही होता है कि, कृष्ण ने 'ज्ञान-यज्ञ' को सबसे श्रेष्ठ बताया, सो गलत बताया, असत्य, अन्-ऋत, कहा; ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ नहीं; तत्त्वतः द्रव्ययज्ञ ही, अग्नि में हवन ही, श्रेष्ठ यज्ञ है; ब्रह्म, परमात्मा, गौण है; अग्नि मुख्य, और श्रेष्ठ है। यदि आपका 'शास्त्र' यही कहता है तो आपके लिए अवश्य ऐसा ही होगा। हम लोग तो परमात्मा की अनन्त विभूतियों में से अग्नि को एक विभूति ही मान सकते हैं। कृष्ण ने कई बेर इस आशय के शब्द कहे हैं, "**श्रेयान् द्रव्यमयाद्**

यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः, परन्तप !" यह भी अति स्पष्ट कहा, "**यज्ञानां जपयज्ञो-ऽस्मि**"; पतंजलि ने योगसूत्र में 'जप' का अर्थ बताया है, "**तज्जपस्तदर्थ-भावनं**"; और गीता के अन्त में, पुनर्वार, कृष्ण ने कहा कि, 'हमारे-तुम्हारे इस सम्वाद को जो सावधानी से पढ़ेगा, जो इसका अध्ययन करेगा, वह 'ज्ञान-यज्ञ' से, मेरा, परमात्मा का, भजन करेगा, "**ज्ञानयज्ञेन तेन अहं इष्टः स्यां, इति मे मतिः**"। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी स्पष्ट कहा है,

इज्या-ऽचार-दम-अहिंसा-यज्ञ-स्वाध्याय-कर्मणां,
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनं।
(अ० १, श्लो०८)

भगवान् मनु ने भी कहा है—

सर्वेषामपि चैतेषां आत्मज्ञानं परं स्मृतं,
तद्धि अग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते हि अमृतं ततः।
(अ० १२, श्लो० ८५)

सब धर्म-कर्मों से बढ़कर आत्म-ज्ञान है; वह मुख्य है; गौण नहीं। अति-कर्म-कांड की तो कृष्ण ने, गीता में, स्पष्ट शब्दों में निन्दा की है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंति अविपश्चितः,
'वेद-वाद'-रताः, पार्थ, ! नान्यदस्तीतिवादिनः; इत्यादि।

भागवत के ग्यारहवें स्कंध के इक्कीसवें अध्याय में, गीता के इन श्लोकों का परिबृंहण किया है।

कामिनः कृपणाः लुब्धाः, पुष्पेषु फलबुद्धयः,
अग्निमुग्धाः, धूमतान्ताः, स्वं लोकं न विदन्ति ते;
न ते मां, अंग !, जानन्ति, हृदिस्थं, यः इदं यतः,
उक्थशस्त्राः, ह्यसुतृपो, यथा नीहारचक्षुषः।

"वेद-वाद-रत लोग, वेद-वेद-वेद, शास्त्र-शास्त्र-शास्त्र, पुकारने वाले लोग, जो लच्छेदार, फूल-पत्ती-बेल-बूटा-दार, बातें कहते हैं, कि इन यज्ञों के सिवा कोई और साधन है ही नहीं, वे अविपश्चित् हैं, नासमझ हैं; ये बातें, भुलावा देने की बातें हैं; जो अग्नि पर मुग्ध हैं, जिनकी आंखें धूंएं से ढक रही हैं, वे मुझको, परमात्मा को, नहीं पहिचान सकते।"

बुद्धि की शरण लो

सबका निश्च्योत, निचोड़, यह है कि, बिना 'बुद्धि' की शरण लिये, काम नहीं चलता। यदि 'शास्त्र' शब्द ही पकड़ा जायगा, तो फिर अन्न और घी के ही 'यज्ञ' से संतोष क्यों? अज-मेध, महिष-मेध, गो-मेध, अश्व-मेध, नर-मेध भी क्यों नहीं? सभी तो शास्त्र-विहित, वेद-विहित, हैं। और आज भी, सनातनधर्म के, वेदशास्त्र के, श्रद्धालु 'हिन्दू' लोग, काशी ऐसे मुख्य तीर्थस्थान में ही, दुर्गा-मन्दिर में, 'अज-मेध', और पास ही, विंध्याचल में 'महिष-मेध', आये दिन करते ही हैं, यद्यपि वेद-विहित आडम्बर के बिना। "**सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्**", यह भी वेद-विहित है। और यहीं समाप्ति क्यों? वाम-मार्ग के उपासक अपने वाम-तन्त्रों को महत्तम 'शास्त्र' बखानते हैं; उनके 'शास्त्र' को भी 'शास्त्र' मानकर, पंच म-कार की सेवा क्यों न की जाय? उनके इस 'शास्त्र' को 'शास्त्र' मानने को आप तैयार हैं? यदि नहीं, तो क्यों नहीं? इस प्रश्न के उत्तर का यत्न जब आप करेंगे, तब आपको विदित होजायगा, कि 'बुद्धि' की शरण लेने के सिवा आपको कोई दूसरा उपाय नहीं।

हिन्दुओं की ढाई हजार जाति, उपजाति, उपोपजाति, उपोपोप-जातियों में से प्रत्येक का अपना 'शास्त्र' अलग है; भोजन के विषय में, विवाह के विषय में, दायभाग के विषय में, अनन्त भेद हैं; सभी 'शास्त्रीय' हैं; मनु ने आठ प्रकार के विवाह और बारह प्रकार के पुत्र कहे हैं;

'शास्त्र'-वादी सज्जन इनमें से किनको 'शास्त्रीय' मानने को तैयार हैं? दाय के लिए मिताक्षरा कुछ कहती है, दत्तक-मीमांसा कुछ, जीमूतवाहन का मत कुछ है, अपरार्क का कुछ, दक्षिण मालाबार के नाम्बुदिरि श्रोत्रिय ब्राह्मणों का कुछ और ही नितान्त भिन्न; सभी 'शास्त्रीय' हैं। 'शास्त्र-वादी' सज्जन किनका अनुकरण करते हैं?

शास्त्रवादी सज्जन ने लिखा कि "दिल्ली कानपुर के यज्ञों में लाखों भाई बड़े कष्ट सहन कर सम्मिलित हुए; क्या सभी मूर्ख हो सकते हैं?" बुद्धिवादी सज्जन ने उत्तर दिया, "तो फिर ऐसा भी आप क्यों न कहें कि करोड़ों आदमी शराब पीते हैं, वे क्या मूर्ख हैं? किसी काम को लाखों-करोड़ों आदमी करते हैं, महज इससे वह धर्म नहीं बन जाता।" शास्त्रवादी ने प्रत्युत्तर दिया, "मद्य पीना भी शास्त्र-सम्मत है क्या? यदि आपने कहीं देखा हो तो लिखिए। आपके इस दृष्टान्त से मैंने यही लिया कि आपकी सम्मति में लाखों अज्ञों की सम्मति का मूल्य नहीं है, तत्त्वज्ञ थोड़े भी हों फिर भी उनकी सम्मति का मूल्य है; यदि ऐसा ही है तो सर्वथा मान्य है; अन्यथा यज्ञ के उदाहरण में मद्य का दृष्टान्त तो परिहासास्पद है।"

'थोड़े भी तत्त्वज्ञों की सम्मति मान्य है; लाखों अज्ञों की सम्मति नहीं'—यह कहना तो 'बुद्धिवाद' को स्वीकार करना है; क्योंकि तत्त्वज्ञता तो बुद्धि ही से साध्य है, विवेक का, सत्य-असत्य के विवेचन का, फल है, जो विवेचन बुद्धि का कार्य है। मनु की आज्ञा ही इन्हीं शब्दों में है।

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः,
स विज्ञेयः परो धर्मो; न अज्ञानां उदितो अयुतैः।
(अ० १२, श्लो० ११३)

किन्तु जब शास्त्रवादी ऐसा मानें, तब 'लाखों भाई यज्ञ में सम्मिलित

हुए, क्या सब मूर्ख थे', ऐसा उनका कहना-पूछना बेकार होजाता है। विदुरनीति में कहा है,

द्वावेव, पुरुषव्याघ्र!, परप्रत्ययकारिणौ,
स्त्रियः कामितकामिन्यः, मूर्खाः पूजितपूजकाः,
गतानुगतिको लोको, न लोकः पारमार्थिकः।

यदि एक स्त्री ने किसी पुरुष की सराहना, कामना की, तो और बहुतसी स्त्रियां उसकी ओर दौड़ीं, (जैसे कृष्ण की ओर); यदि एक पुरुष ने किसीकी पूजा प्रशंसा की, कि फलाने बड़े संत-महंत हैं, तो झुंड के झुंड उसकी पूजा करने के लिए टूट पड़े; इस प्रकार के जीव 'पर-प्रत्यय-कारी', दूसरे की अकल से चलनेवाले होते हैं, अपनी अकल नहीं रखते।

बहुत वर्ष हुए, काशी के बड़े प्रतिष्ठित, सच्चे बहुज्ञ, विशेषज्ञ विद्वान्, स्वामी मनीषानन्द से, पहिले पहिले यह श्लोक सुना,

घटं भिंद्यात्, पटं छिंद्याद्, उत्पतेन्निपतेदपि,
येन केन प्रकारेण विख्यातिं प्राप्नुयान्नरः।

घड़ा फोड़ै, कपड़ा फाड़ै, ऊपर-नीचे उछलै-कूदै, और प्रकार न बन पड़ै तो इसी प्रकार से ख्याति तो लोक में हो; इसके साथ टीका रूप से इतना और उन्होंने कहा कि जो 'सन्त' 'साधु' लोग 'सिद्ध' बनाना चाहते हैं, वे पहिले 'साधकों' को एकत्र करते हैं, जो उनकी 'योग-सिद्धियों' की, 'महात्मता' की, महिमा चारों ओर गाते फिरते हैं; तब "**मूर्खाः पूजित-पूजकाः**" न्याय से भीड़ उनके चारों ओर छोटा-मोटा उपहार लेकर दौड़ने लगती है। उक्त श्लोक, 'श्लोक' होने के नाते, स्यात् 'शास्त्र' ही होगा! मैंने स्वामी जी से पूछा नहीं; पर उसके बाद, कई पंडितों से, विशेषकर पद्मनाभ शास्त्री जी नैयायिक के मुख से, जो 'स्पष्टवक्ता'

प्रसिद्ध थे, वह श्लोक अक्सर सुना। आजकाल 'सिद्ध-सार्थकता', 'प्रोपेगेंडा', का परिष्कार और विस्तार, पच्छिम की नकल करके, भारत में भी, नये-नये तरीकों से, बहुत हो रहा है; 'धर्म'-'मजहब' के क्षेत्र में भी, राजनीति-'पालिटिक्स' के क्षेत्र में भी, 'रोजगार-अर्थ-वार्ता-'ईकोनामिक्स' के क्षेत्र में भी।

अर्थस्य पुरुषो दासो, नार्थो दासस्तु कस्यचित्। (म० भा०)

घूमफिरकर सभी आदमी 'अर्थ' के गुलाम हैं; 'अर्थ' किसीका गुलाम नहीं। सब लोग अपना-अपना मतलब साधने के लिए, झूठी-सच्ची 'प्रोपेगेंडा' की, विज्ञापन—'ऐड्वर्टिज्मेंट' की, इतनी धूम मचा रहे हैं, कि साधारण जनता बिलकुल विक्षिप्त होरही है; सत्य और मिथ्या का विवेक करना बहुत ही कठिन होगया है। इस अभागे भारतवर्ष में, 'पर-प्रत्यय-कारिता' को, स्वार्थी होशियार लोगों ने, इतनी बढ़ाई है, 'पोथी में लिखा है, 'इसको नहीं मानते तो नरक में जाओगे, और मानो तो स्वर्ग पाओगे', ऐसा कहकहकर, कि हिन्दुओं की प्रकृति का वाचक शब्द 'भेड़ी-धसान' प्रसिद्ध होगया है। ग्रहण तो, महावारुणी तो, लघु-वारुणी तो, कुम्भ तो, अध-कुम्भी तो, सोमवती अमावस्या तो, एकादशी तो, फलानी षष्टी तो, ढिकानी अष्टमी तो, यह पर्व तो, वह पर्व तो, नित्य कहीं-न-कहीं, अत्यधिकांश अनपढ़ आदमियों की भीड़ लदी पड़ती है; गंदगी और बीमारी बढ़ती है; यह पूजित-पूजकों का प्रत्यक्ष दैनंदिन उदाहरण है।

शास्त्रवादी सज्जन पूछते हैं कि, "शराब पीना भी शास्त्रसम्मत है क्या?" बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि, जिनको लोग 'शास्त्र' मान रहे हैं वे शास्त्र शराब के लिए सम्मति देते हैं। मद्य के, किन्हीं स्मृतियों में ग्यारह, किन्हींमें बारह भेद कहे हैं; गौड़ी, माध्वी,

पैष्टी का 'ब्राह्मणों' को, अथवा तीनों द्विजों को, निषेध किया है, अन्य प्रकार की शराबों के लिए अनुमति दी है; देखिए विष्णु-स्मृति आदि; यद्यपि **"निवृत्तिस्तु महाफला"** भी कहा है; शूद्रों के लिए पहिले तीन की भी मनाई नहीं है। **"सौत्रामण्यां सुरां (पैष्टीं अपि) पिबेद्"** यह वेद-विधि ऊपर उद्धृत हो चुकी है; 'सोम' भी एक प्रकार का मद्य ही था; **"इन्द्रोऽमाद्यत सोमेन"** ऐसा वाक्य महाभारत में, एक राजा की यज्ञ-समृद्धि के वर्णन में आया है; कुछ अन्वेषकों का कहना है कि 'भंग', भांग, ही 'सोम' है, वा इसी जाति की कोई दूसरी औषधि। इत्यादि।

बलराम जी घड़े-के-घड़े शराब पी जाते थे; कृष्ण और अर्जुन को भी संजय ने 'क्षीब', शराब से मस्त, सत्यभामा और द्रौपदी की गोद में पैरों को रखकर लेटे हुए, जनानखाने में देखा; कौरव, पांडव, यादव घरानों की स्त्रियों के शराब पीने का वर्णन महाभारत में है; बहुत प्रसिद्ध, यद्यपि बहुत अश्लील भी, 'माघ' काव्य में भी देखिए; यादव वंश तो अति-मात्र शराब पीकर आपस में ही कट मरा। यदि शास्त्रवादी सज्जन से पूछा जाय कि क्या ये सब ही मूर्ख थे, तो प्रायः उनको यह कहने के लिए विवश होना पड़ेगा कि, इस विषय में, मूर्ख ही नहीं, महामूर्ख थे। **"शत्रोरपि गुणाः वाच्याः, दोषाः वाच्याः गुरोरपि।"** मद्य का दृष्टान्त 'परिहासास्पद' नहीं, 'रोदनास्पद' है; विशेषकर मेरे ऐसे बूढ़े आदमी को तो भारतवासी हिन्दुओं की समग्र दशा 'रोदनास्पद' हो रही है; यद्यपि अन्य देश वालों को नितान्त 'परिहास' वा 'अपहास' वा 'अट्टहास' की आस्पद है।

इस अन्ध-श्रद्धा के अत्यन्त बढ़ाने का ही यह फल है कि हिन्दू-दास की दासत्व बुद्धि प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है; कब्रों, दरगाहों, का हाल लिखा; जो कुछ भी जिस किसीने बता दिया उसीपर विश्वास

कर लिया; 'सोने का सिक्का, वा गहना, और करंसी नोट दूना कर देंगे, लोहे तांबे को एक रत्ती भस्म से सोना बना देंगे, अपना माल थोड़ी देर के लिए हमारे सुपुर्द कर दो'--तो सुपुर्द कर देते हैं, और ठगे जाने पर पीछे झींकते हैं और पुलिस के पास निष्फल दौड़ते हैं; लाट साहब से लेकर चौकीदार के आगे झुक-झुककर सलाम करते हैं; यहांतक कि स्वराज्य खो दिया; और उसके वापस लाने के एकमात्र उपाय, **'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः'** की सच्ची व्यवस्था को नहीं ही सीखते-सिखाते हैं। काशी की पंचक्रोशी यात्रा में मैंने अपनी आंखों देखा है कि, अपनेको 'ब्राह्मण' बताते हुए एक आदमी के कहने से, देहातियों के एक झुंड ने, मील के एक पत्थर (माइल् स्टोन) को 'महादेव जी' मानकर, उसपर फूल-पत्ते, पानी और पैसे चढ़ाये, और उन पैसों को लेकर 'ब्राह्मण देवता' चल दिये। 'मंदिर बनवा दो', 'मंदिर बनवा दो', और 'पुजारी नियुक्त कर दो', यही शिक्षा श्रद्धालुओं को दी जाती है। काशी में 'मंदिर' के ऊपर 'मंदिर' लद गये हैं; हर गली में दो-चार छोटे-मोटे मौजूद हैं; बहुतेरे नये बनों मे न कोई दर्शनार्थी जाता है, न पुजारी जी बैठते हैं; मैंने अपनी आंखों देखा है, एक नये ही बने, और अच्छे बड़े सुन्दर भी, मंदिर में, कुत्ते ने मूत्र से शिव-पिंड जी का अभिषेक किया; पुजारी जी का पता नहीं था; बड़ा दुःख हुआ, 'हिंदू-धर्म' ऐसा अर्थ-रहित, दुरर्थ-पूरित हो रहा है।

बुद्धिवादी सज्जन ने बहुत ठीक लिखा है कि, "आर्य लोग जबतक स्वतंत्र विचार के रहे, तर्क के बल पर चले, तबतक आर्य जाति जीवित रही।" अर्थात् मूल सिद्धांत स्थिर रहते हुए, विशेष आचार, धर्म, कर्म, विधि-निषेध, समय-समय पर, अवस्था के अनुसार, बदलते रहे। आखिर यह भी विचारिए कि मनुस्मृति, मूल स्मृति, तो थी ही; फिर सत्ताईस और

क्यों बनीं? इसीलिए न कि मनु के मूल सिद्धांतों को अटल रखते हुए, थोड़ा-बहुत हेरफेर गौण बातों में समय-समय पर होता रहा है? "जबसे हम अन्ध-विश्वासी बने" (और धर्माधिकारियों द्वारा बनाये गये) "तबसे शास्त्रों की प्रगति रुक गई; अब उन प्रगतिशील ऋषियों की, हम ऐसी अकर्मण्य सन्तान हैं कि हमारे पास शास्त्र की दुहाई देने के सिवा, और कुछ भी न रहा; विवेक को कोई स्थान देना ही नहीं चाहते . . .।" बुद्धि-स्वातंत्र्य गया; उसके पीछे शासन-स्वातंत्र्य भी, स्वराज्य भी, अवश्यमेव गया।

बुद्धिवादी सज्जन ने लिखा कि, "यज्ञ में पशुओं की बलि का विरोध बुद्ध भगवान् ने किया, तब धर्म के नाम पर काफी विरोध हुआ, पर अन्त में विवेक की जीत हुई। 'शास्त्रों' में सैकड़ों वचन ऐसे मिलेंगे जो त्याज्य हैं, जिन्हें आप भी स्वीकार नहीं करेंगे।" 'शास्त्र-वादी' सज्जन ने उत्तर दिया कि "इतिहास बताता है कि भगवान् शंकराचार्य ने अवतीर्ण होकर बौद्ध धर्म को परास्त कर, वैदिक धर्म का ऐसा प्रतिष्ठापन किया, कि भारत में बौद्ध रह न सके।" हां, बौद्ध तो रह न सके, पर मुसलमान और ईसाई आ धमके और बस गये, और भगवान् शंकराचार्य के नवीन अवतार का तिरस्कार करके ऐसे फूलेफले कि आज भारत की आबादी में ६५ फीसदी 'हिन्दू'-नाम-धारी रह गये हैं, २५ फी सदी मुसलमान हो गये हैं और १० फी सदी ईसाई आदि हैं। शंकराचार्य और कुमारिल आदि के रटते रहने पर भी, वैदिक पशु-यज्ञ भारत से उठ ही गया, और प्रतिदिन लाखों हिन्दू तीर्थ-स्थानों में स्नान करने से पहिले जो संकल्प पढाये जाते हैं उसमें **"बौद्धावतारे, कलि-प्रथम-चरणे"** पढ़ते ही हैं; तथा बौद्ध धर्म के मूल उद्गम स्थान, काशी के 'सार (ङ्ग) नाथ' नामक भाग में, पुनः वह धर्म नई जड़ पकड़ने का यत्न कर रहा है, और भारी बुद्ध मंदिरों और भिक्खु गृहों का निर्माण कर चुका है। यदि वहांके 'भिक्खु' लोग बुद्ध-

शासन का सच्चे हृदय से पालन करेंगे, तो वे पुनः भारत के विकृत 'हिन्दू' धर्म ही का संशोधन और जीर्णोद्धार कर सकेंगे, जैसा ही और जो ही बुद्ध-देव ने किया; उन्होंने कोई नया धर्म नहीं चलाया। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मुख्यतः बौद्ध धर्म अपने भिक्खुओं के दुराचारी और भ्रष्ट होजाने से परास्त हुआ, तथा यह कि शंकर के शास्त्र से उतना परास्त नहीं हुआ जितना सुधन्वा के शस्त्र से। शास्त्र के विषय में तो शंकर के अनुयायी 'प्रच्छन्न बौद्ध' ही कहलाये। **मायावादं असत् शास्त्रं, प्रच्छन्नं बौद्धमेव च**...; इत्यादि परस्पर एक-दूसरे के 'शास्त्रों' को 'असत् शास्त्र' कहते रहे; इससे भी विदित होता है कि 'अपनी-अपनी दही को मीठी' कहते हुए भी, 'सत् शास्त्र' और 'असत् शास्त्र' में विवेक कराना चाहते थे; केवल 'शास्त्र' शब्द पर मुग्ध होजाना ठीक नहीं। रही 'परास्त' करने की बात; सो 'भगवान्' शंकराचार्य के मत को 'भगवान्' रामानुजाचार्य के नवीनतर अवतार ने परास्त किया, और उनके मत को 'भगवान्' मध्वाचार्य, और क्रमशः सर्वे 'भगवन्तः' निम्बार्काचार्य, रामानन्दाचार्य, कबीराचार्य, चैतन्याचार्य, वल्लभाचार्य, नानकाचार्य, दयानन्दाचार्य, देवेन्द्रनाथाचार्य, केशवचन्द्रसेनाचार्य, इत्यादि ने। आज की दशा यह है कि इन सभी 'भगवानों' के परमश्रद्धालु अनुयायी, 'श्री प्रभुवर १ लक्ष-कोटि-८, अथवा, श्री अनंत ८ श्री, श्री महा भगवान् अंग्रेज बहादुर' के आगे झुक-झुककर नमस्कार–चमत्कार कर रहे हैं। शंकर और उनके शिष्यों-अनुयायियों की कृतियों और गर्वोक्तियों का हाल माधव-लिखित 'शंकर-दिग्विजय' में देखिए। रामानुज के अनुयायियों की एक प्रसिद्ध गर्वोक्ति यह है,

गाथा ताथागतानां गलति, गमनिका कापिली क्वापि लीना,
क्षीणा काणादवाणी, द्रुहिण-हर-गिरः सौरभं नारभन्ते,

क्षामा कौमारिलोक्तिर्, जगति गुरुमतं गौरवाद् दूरवान्तं,
का शंका शंकरादेर्, भजति यतिपतौ भद्रवेदीं त्रिवेदीं।

ऐसे गर्वों, परस्पर कलहों, परस्पर परास्त करने की दुर्वासनाओं ने सारे भारत को परास्त कर डाला है। इस प्रथा से भारत देश, भारते धर्म, भारत-समाज का कल्याण नहीं। अन्न-घी के यज्ञ छोड़िए, पशु-यज्ञ छुड़वाइए, मद्य-मांस छुड़वाइए; मनु-विहित दैनंदिन पंच 'महायज्ञों' का प्रचार कीजिए; कृष्ण के ज्ञानयज्ञ को फैलाइए। जनता की बुद्धि, विवेक, स्वयंप्रज्ञता को प्रज्ञान-विज्ञान से उज्ज्वल कीजिए; **'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः'** की व्यवस्था से मनु के सिद्धांत और आदेश के अनुसार सच्चे वर्णाश्रम-धर्म को समस्त मानव जगत् में फैलाइए; तभी विश्व-शांति भी होगी, और सब मनुष्यों को पर्याप्त मात्रा में अन्न-घी-दूध खाने-पीने को मिलेगा।

इस निबन्ध का लिखना समाप्त हो चुका था कि एक 'बुद्धिवादी' सज्जन का पत्र मेरे पास आया; उसके साथ एक 'शास्त्रवादी' सज्जन के पत्र की प्रतिलिपि भी थी; तथा बुद्धिवादी ने जो उत्तर उनको दिया था उसकी भी। शास्त्रवादी सज्जन ने लिखा है—"...एक प्रश्न आप भगवान्दास जी से और भी कर सकते हो; हाल में यहां एक रुद्राभिषेक श्री श्रीकेदारेश्वर में हुआ है, अखंड रुद्राभिषेक अहर्निश अखंड दुग्धधारा द्वारा भगवान केदारेश्वर का पूजन हुआ है; दो-दो घंटे की पारी से लगभग २४० ब्राह्मणों ने वेदघोष के साथ इस कार्य को किया है; शुद्ध गोदुग्ध बड़े परिश्रम से प्राप्त हुआ है; आपके तर्क के अनुसार, जब बच्चों को भी दुग्ध मिलता ही नहीं है, तब इस तरह दुग्ध बहाया जाना क्या धर्म है ? और फिर यह पूजन निर्गुण, निर्विकार, अव्यय, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य ब्रह्म का हुआ, अथवा नित्यतृप्त, आप्तकाम,

आनन्दमय भगवान का हुआ ? प्रत्यक्ष देखने में तो पाषाण खंड पर दुग्ध गिर रहा था, और जलाभिषेक भी साथ-साथ था; यात्रीगण भी जलादि अर्पण करते थे, अतः जल के साथ बहकर नाली में जाता था; किसीके हाथ भी नहीं लगता था; यह पुण्य हुआ क्या ?"

इसका उत्तर बुद्धिवादी सज्जन ने, शास्त्रवादी जी को, यह लिखा कि, "मेरे विचार में तो दूध को बहादेना अवश्य ही अविवेक है, इसमें मुझे कुछ संदेह नहीं; दूध के अधिकारी पहिले बच्चे हैं; और भगवान् तो भावना से तृप्त होते हैं; उनको दूध की आवश्यकता ही क्या है ? आपका पत्र, भगवान्दासजी को अवश्य भेज दूंगा।"

मेरे नामोल्लेख से प्रश्न किया गया है, इसलिए, इस स्थान पर, उसका उत्तर भी रख देना उचित जान पड़ता है।

बुद्धिवादी सज्जन के उत्तर से मैं अक्षरशः सहमत हूं। केवल वेद-घोष होने से, अथवा शंख, मृदंग, घंटा के निर्हाद, पणव, आनक, गोमुख के निनाद, तूर्य, पटह, दुंदुभि के ध्वान और तुमुल शब्द से, (जिसके साथ बीसियों 'जगद्गुरुओं' की, परस्पर 'दिग्विजय' की आकांक्षा से, 'सवारियां' निकला करती हैं), कोई अनुचित, अपार्थ, व्यर्थ अथ च अधर्म कार्य, 'धर्म' नहीं होजाता। हनूमान् ने लंका में ब्रह्मराक्षसों को वेदघोष करते सुना, ऐसा वाल्मीकि जी लिखते हैं; मुझे तो इसका निजी ज्ञान है नहीं; पर वाल्मीकि जी ने ठीक ही लिखा होगा; तो क्या इस वेदघोष के हेतु से, राक्षसों के सब कार्य 'धर्म' होगये ? मेघनाद के, ऐसे ही वेदघोषयुक्त, यज्ञ का, लक्ष्मण ने तो ध्वंस ही कर डाला। शास्त्रवादी सज्जन ने जिस प्रकार से, 'बड़े परिश्रम से एकत्र किये गये शुद्ध दूध का पानी में मिलाकर', नाली से बहाने का वर्णन करके प्रश्न किया है, कि 'क्या यह धर्म है ?', उससे तो पाठक को यह संदेह होजाता है कि ये

सज्जन, 'दुग्ध से नाली-अभिषेक' का स्वयं ही खंडन कर रहे ह। अव्यपदेश्य ब्रह्म और आनन्दमय भगवान् में क्या भेद है, और अभिषेकरूप पूजन किसका हुआ, इस अपने प्रश्न का उत्तर वे स्वयं ही दे सकते हैं, कि उन्होंने किसका पूजन किया। प्रत्यक्षदर्शी साधारण मनुष्य की दृष्टि से जो उत्तर होता है, वह भी उन्होंने स्वयं लिख दिया हैं, कि 'पाषाण खंड' का। तथा च 'रुद्र' देव, 'शास्त्रों' ही के अनसार, न 'अव्यपदेश्य ब्रह्म' हैं, न 'आनन्दमय भगवान्', बल्कि 'अहंकार' और 'क्रोध' के मूर्त देव हैं, और उनकी ग्यारह मूर्तियां हैं, अर्थात् दस इन्द्रियां, और मुख्य इन्द्रिय ग्यारहवां मन। **"नमस्ते रुद्र !, मन्यवे (क्रोधाय)" "मा हिंसीः पुरुषं जगत्", "या ते, रुद्र !, शिवा तनूः··· तया नः··· अभिचाकशीहि", "मानो महान्तं उत मा नो अर्भकं···वधीः, ···प्रिया मा नस्तनवो, रुद्र !, रीरिषः", "मानो वीरान्, रुद्र !, भामितो (अथ च भामिनो) वधीः, मा नो गोषु, मा नोऽश्वेषु रीरिषः"**—इत्यादि, यजुर्वेद के रुद्राध्याय में, जो 'रुद्रदेव' के विविध प्रकार के क्रोध के शमन के लिए स्तुति और प्रार्थना की है, वह तो प्रत्येक समझदार मनुष्य को करना चाहिए; पर, पानी और दूध मिलाकर पनाली में बहाने से रुद्रदेव नहीं खुश होंगे, ऐसी रिश्वत, उत्कोच, उनको प्रिय नहीं, अपितु, और क्रुद्ध होंगे, और होरहे ही हैं। ऊपरी आडम्बर, ढोंग, कर्मकांड के आटोप से, न अव्यपदेश्य ब्रह्म, न आनन्दमय भगवान्, न क्रोधमय रुद्र, प्रसन्न होते हैं। मराठी भाषा में कहावत है, 'देव भावाचा भूखा'; अन्न और घी और दूध-दही का नहीं। सर्ववेदमय मनु की आज्ञा है :

विधि-यज्ञाज् जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः,
उपांशुः स्यात् छतगुणः, साहस्रो मानसः स्मृतः;

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः,
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीं;
जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो, नात्र संशयः;
कुर्याद् अन्यत्, न वा कुर्यात्; मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
(२, ८५-८७)

कर्मकांडी यज्ञों से जपयज्ञ दशगुना अच्छा है; उसमें भी, केवल ओष्ठ हिलाकर, इतना धीरे कि पास बैठा हुआ भी न सुनै, ऐसा 'उपांशु' जप सौगुना अच्छा है; और सर्वथा मौन 'मानस' जप, हजार गुना। गीता और योगसूत्र का मत, इस विषय में, पहिले लिखा जा चुका है। मतलब यह कि चिल्लाकर कहने से शब्द का, कोलाहल का, अंश प्रबल, और 'भाव' का अंश (जो ही मुख्य है) दुर्बल, होजाता है; इसलिए 'सद् ब्राह्मण', 'मानस' जप से ही संसिद्ध हो सकता है और होता है, उसका मानस बल, आत्मबल, संकल्प-शक्ति, सत्य-संकल्पता, बढ़ती है; कर्मकांडों के कर्मों का उसे प्रयोजन नहीं।

इस्लाम-धर्म चलानेवाले मुहम्मद के पास बैठकर, एक नये मुसलमान ने बहुत ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर नमाज़ पढ़ना शुरू किया; मुहम्मद ने उससे कहा, 'ऐ बिरादर!, अल्ला बहिरा नहीं है, धीरे पढ़ो, बल्कि मन ही में पढ़ो, वह सबके मन को पहिचानता है।' ईसाई लोक में, समष्टि दृष्टि से, अन्य साम्प्रदायिक लोकों की अपेक्षा, बहुत अधिक समृद्धि है, शक्ति है; पर उस समुदाय में ऐसा होम-हवनादि कुछ नहीं है; किसी पहिले समय में, भारत में, यदि उत्तम बुद्धि से और सच्ची विधि से किये जाते रहे हों तो स्यात् इनसे विशेष-विशेष व्यक्तियों या समुदायों को कुछ लाभ होता रहा हो; पर अब तो ये निरे ढोंग ढकोसले डोकरिया पुराण रह गये; बल्कि दुर्विधि से, दुश्चरित्र 'ऋत्विजों' के

हाथ से और आपत्ति बुलाते हैं। यदि कहो कि ईसाई-लोक में प्रत्यक्ष कलह और पाप बहुत है, तो भारत में उससे बहुत अधिक है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है, कि भारत, पाश्चात्यों की जूतियों के नीचे पड़ा हुआ है।

शास्त्रवादी सज्जन ने लिखा कि नाली में बहाया दूध "किसीके हाथ में भी नहीं लगता था"; यह तो दूध बहाने की निन्दा ही समझी जायगी, प्रशंसा नहीं। यदि किसी जीवद् बालक के, या रोगी के, या स्वस्थ ही मनुष्य के हाथ लगता, और उसका 'उदराभिषेक' होता, तो भी कुछ अच्छा समझा जाता, क्योंकि "देहो देवालयः प्रोक्तः"। काशी में, विश्वनाथ के मन्दिर में, पचासों वर्ष से, प्रतिदिन, दिन में दो बार सवेरे-शाम, नाटुकोटि चेटी लोगों की ओर से 'शिव-लिंग' का दूध से स्नान कराया जाता है; पहिले तो पांच मन दूध चढ़ता था; घटते-घटते अब महँगी के कारण बीस सेर सवेरे, बीस सेर शाम चढ़ता है; पिंड और कुंड खूब स्वच्छ धोये जाते हैं; तब दूध भरा जाता है; विशेष स्वच्छ नाली से बहकर, दूसरी, रोज धोई जाती, साफ कुंडिका में जमा होता है, और वहांसे, मंदिरोपजीवी लोग उसको ले जाते हैं और काम में लाते हैं; इतना ही संतोष का स्थान है कि, यद्यपि इस दैनंदिन बहुत वर्ष से होते हुए रुद्र-दुग्धाभिषेक से विश्वकल्याण तो किंचित् भी नहीं हुआ, पर निश्चयेन कुछ थोड़ेसे मनुष्यों का तो हुआ; और, उस दूध में शहद, केशर, इलायची, शर्करा, आदि सौगंधिक सौस्वादिक द्रव्य भी मिले रहते हैं, इसलिए उन उपजीवियों को विशेष 'आनन्द' भी आता होगा। एक ओर तो गवर्मेंट, मलाई, रबड़ी आदि का, मथुरा, काशी, आदि शहरों में बनाना, बीच-बीच में बंद करती है, इसलिए कि साधारण जनता और बच्चों और रोगियों को दूध की तंगी न हो, दूसरी ओर दूध पनाले में

बहाया जाता है, ऐसा कि 'किसीके हाथ नहीं लगता' ! क्या कहिए हिन्दू-दास की बुद्धि को।

मत्सर, ईर्ष्या, स्पर्धा की वृद्धि को देखिए। ऊपर महाभारत का वाक्य लिख आये हैं,

स्त्रियः कामितकामिन्यः मूर्खाः पूजितपूजिकाः;

जहां 'साधक' लोगों ने 'सन्त महन्त साधु सिद्ध' पुरुष का यश फैलाया तहां, नया तमाशा देखने के लिए, आदमियों के झुंड उमड़ने लगते हैं, और स्त्रियां पहिले—'मैं पहिले इनके पैर छूऊं, मैं सबसे बढ़िया फूलमाला इनके गले में डालूं, मैं सबसे उत्तम भोजन इनको खिलाऊं, मैं सब प्रकार की "सेवा" करूं, घर का माल-मता सब इनके ऊपर चढ़ा दूं'; धनवान् लोग भी होम-हवन-यज्ञ अभिषेक कराने के लिए, एक से एक बढ़के, 'उतरा-चढ़ी' की बुद्धि से रुपया देने लगते हैं, समझते हैं कि इसी प्रकार से हमारी धर्मिष्ठता का नाम-यश दुनिया में फैलेगा, और रोजगार में भी स्यात् कुछ फायदा ही होजाय। तथा स्वयं 'संत-महन्तों' में ईर्ष्या और नकल, 'यज्ञों' की घुड़-दौड़, शुरू होजाती है; जैसी राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्रों में, राष्ट्रशासकों और धन-कुबेरों में, कि मेरा राष्ट्र सबसे अधिक विशाल और शक्तिमान् हो, मेरी सम्पत्ति अद्वितीय हो; यह स्पर्धा नहीं होती कि राष्ट्र-राष्ट्र में प्रीति हो, मेल हो, सबकी प्रजा सुखी हो, वा लक्ष्मी का सुप्रयोग हो, सबका यथोचित अन्न-वस्त्र से भरण-पोषण हो।

जैसी ही सद्ब्राह्मणों की भारी प्रशंसा की है, देव-तुल्य कहा है, वैसी ही, मनुजी ने, दाम्भिकों के विरुद्ध बड़ी कड़ी चेतावनी दी है,

पाषंडिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकान् द्विजान्,
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्,

न वारि अपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे,
न बकव्रतिके विप्रे, न अवेदविदि, धर्मवित्;
ये बकव्रतिनो विप्राः, ये च मार्जारलिंगिनः,
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य, कुर्वन् स्त्री शूद्रदम्भनं।

(म० ४३०, १९२, १९७, १९८)।

पाषंडी, बुरे कर्मवाले, बिल्ली और बगुले के ऐसे व्रत का रूप धरे हुए, वेदविद्या से शून्य, नामधारी ब्राह्मण, व्रत के ढोंग से अपने पापों को छिपाना चाहते हैं, और 'व्रत' के आड़ में और अधिक पाप करते हैं, तथा अल्पबुद्धि अबोध स्त्रियों और पुरुषों का दम्भन, वंचन, ठगाई करते हैं; ऐसे मिथ्या-ब्राह्मणों से भला आदमी बात भी न करे, और उनको पानी भी न दे।

काशी के दैनिक पत्रों में समाचार पढ़ता हूं, और अभ्यागतों से सुनता हूं, कि अब किसी 'शतकुंडी' यज्ञ की आयोजना हो रही है। "जिसमें कई लाख रुपयों का खर्च होगा", तथा यह कि 'उपशान्तेश्वर' "आत्मावीरेश्वर', 'गभस्तीश्वर', 'आनन्दभैरवेश्वर', 'ध्रुवेश्वर', 'ज्येष्ठेश्वर', 'असी-संगमेश्वर', आदि कितने ही 'ईश्वरों' के मंदिरों में पिंड का दुग्धाभिषेक अभी समाप्त हुआ है, या हो रहा है, या आरंभ होनेवाला है। किसी भी शब्द के पीछे 'ईश्वर' शब्द लगा दीजिए तो एक नया ईश्वर पैदा होजाता है, और दूध मांगने लगता है। 'ईंटेश्वर' तो, 'ढोंकेश्वर' तो, 'पत्थरेश्वर' तो, 'पेड़ेश्वर' तो, 'कंकड़ेश्वर' तो, सभीके सामने हिन्दू दास साष्टांग दंडवत करने को गिरा पड़ता है; यदि मोटे-मोटे, संस्कृत के, मुख-पूरक शब्दों से नाम रक्खा जाय, 'डमरू-डिंडिमेश्वर', 'अश्मकुट्टेश्वर', 'वक्रतुंडमहाकायेश्वर', 'शूलटंकपाशदंडेश्वर'—तब तो उसके ऊपर जादू का असर होजाता है; 'यह वेद का मंत्र है'—

साष्टांग लीजिए; 'यह स्मृति का श्लोक है'—साष्टांग लीजिए; 'यह शास्त्र का वाक्य है'—डबल साष्टांग लीजिए ! ऐसा हिन्दू-दास क्या 'स्व-राज' लेगा, क्या 'स्व-राज' करेगा !

'तीर्थ' कहलानेवाले स्थानों में देखिए तो 'साधु-सन्त-महन्तों' के बड़े-बड़े महल खड़े हैं; आड़ के लिए एक मूर्ति भी किसी 'ईश्वर' या 'भगवान्' की अवश्य ही रक्खी है, और उसकी आड़ में तरह-तरह का 'भोग' लग रहा है, 'विलास' हो रहे हैं, 'लीला' की जा रही है, स्त्रियां 'सेवा' के लिए सदा हाजिर हैं। और देखिए; काशी में 'शतकुंडी' की तैयारी होरही है, तो, 'गोपाल' नामक साप्ताहिक से मालुम हुआ कि, "जगत्प्रसिद्ध धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में...विश्व के कल्याणार्थ...सूर्यग्रहण के अवसर पर, श्री सूर्य सहस्र रश्मि महायज्ञ' का संकल्प" एक सज्जन ने किया है; तथा उनकी सहायता के लिए, एक "जगद्गुरु शंकराचर्य जी महाराज, जिनका एक-एक श्वास जगत् में प्राण फूंकता है, जिनका एक-एक वचन विश्वसौख्य का प्रेरक है, जिनका एक-एक रोम मांगल्य का प्रतीक है, जिनका सम्पूर्ण स्थूलदेह विश्वगरिमा का मूर्तिमान रूप है, दिल्ली के भाग्य का वैभव पुष्पित कर रहे हैं", तथा और भी कई इससे कुछ ही न्यून विशेषणों से विभूषित अन्य सज्जन भी ! कृष्ण ने जिस 'पुष्पिता वाक्' का जिक्र किया वह तो दूरे परास्त होगई, 'कादम्बरी'-रचयिता बाणभट्ट भी ऐसी लच्छेदार भाषा नहीं लिख सके ! और देखिए; इसी 'गोपाल' पत्र के इसी अंक में, "इस महान यज्ञ के संरक्षक" शीर्षक के नीचे, संरक्षकों के वर्णन से, एक 'जगद्गुरु' और एक 'गोस्वामी' "श्री ११०८" (ग्यारह सौ आठ) से विभूषित हैं; एक "योगीराज स्वामी" और एक केवल "स्वामी", "११०८ श्री" और (बिना श्री के, केवल) ११०८ से; और चार सज्जन

"श्री १०८" से, जिनमें एक "स्वामी", एक "परमहंस श्री स्वामी", एक "साधु सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी" और एक "स्वामी" भी हैं; तथा आठों सज्जन, "जी महाराज" भी हैं। जैसे श्री एक अर्व-खर्व-अनन्त आठ श्री गर्वमेंट बहादुर, बीसियों 'टैटल' द्वारा महापुरुषों की उच्चावचता का विवेचन करती है, वैसे धर्म-नायक लोग 'श्रियों' की संख्या से उच्चावचता का संकेतन करने लगे हैं। मालूम नहीं कि इनकी राय में वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, राम, कृष्ण किस राशि में आते हैं—श्री ८, वा श्री १८, वा श्री १०८, वा श्री १००८, वा श्री ११०८ में।

यह दशा भारतीयों की शिष्टता, सभ्यता, विचार, भाव, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, की होरही है; इसीके बल हम स्व-राज्य पावेंगे !

हे भाई ! इन होम–हवन–यज्ञ–अभिषेक आदि के ढोंगों को, 'श्रियों' की भरमार को, 'परस्परं प्रशंसंति' के प्रकार को, छोड़ो; सेठ-साहूकारों को चुटकी और बढ़ावे की चातुर्य-नीतियों से भुलावे में डालने, और थैलियां भेंट कराने, और उनको और स्त्रियों को 'सेवा' में लगा देने, के अभ्यास को समाप्त करो। सच्ची तपस्या करो कराओ; सच्ची विद्या सीखो सिखाओ। सच्चे तपस्वी तो प्रायः मनुष्यों की भीड़ से दूर ही रहते हैं। यदि सचमुच विश्वकल्याण की बलवती इच्छा हो, तो उपयुक्त प्रार्थना-मंत्रों के देशव्यापी उपदेश करो; धनवानों से, धन का नितान्त व्यर्थ अपव्यय करने में होड़ मत कराओ, प्रत्युत सद्व्यय में जरूर होड़ कराओ। देखो, टाटा कुटुम्ब ने पचहत्तर लाख रुपये के दान से भारी विज्ञानशाला की स्थापना करादी, जो जगत्प्रसिद्ध होरही है और भारत के विज्ञान की सम्पत्ति बढ़ा रही है; अन्नामलाई चेटी ने तीस लाख रुपये के दान से एक पूरी यूनिवर्सिटी (विश्व विद्यापीठ) चला दी; बिड़ला कुटम्ब ने भी बीस–

पचीस वर्ष में साठ-सत्तर लाख रुपयों के दान से, कई युनिवर्सिटियों की बड़ी सहायता की, एक छोटी युनिवर्सिटी ही के ऐसे, लड़के-लड़कियों के स्कूल कालिज, पिलाणी नगर में स्थापित करके चला रहे हैं, वैदिक हिन्दू, बौद्ध हिन्दू, जैन हिन्दू, सिक्ख हिन्दू, अछूत हिन्दू आदि के परस्पर वैमनस्य को मिटान के लिए विविध यत्न कर रहे हैं, काशी में सारनाथ में अन्य दूर के देशों से आये हुए चीनी, बर्मी, तिब्बती आदि यात्रियों के सुविधा के लिए धर्मशालाएं बनवा दी हैं, कई तीर्थस्थानों में जनता के स्थायी और सच्चा प्रत्यक्ष उपकार करनेवाले पुल, घाट, घंटाघर, बनवा दिये हैं, अस्पताल और सूतिकागृह बनवाये हैं, और चला रहे हैं, सिखसंघतों का जीर्णोद्धार कराया है, 'हरिजनों' के उद्धार के लिए, उनके लड़कों के लिए, तथा अन्य दरिद्र छात्रों के लिए बहुत दिया है और दे रहे हैं, इत्यादि। ऐसे ही सर दामोदर ठाकरसी ने पंद्रह लाख रुपये के दान से, अपनी पत्नी के नाम से, स्त्रियों की शिक्षा के लिए एक 'वुमन्स युनिवर्सिटी' ही स्थापित कर दी है। लाहौर में, सर गंगाराम ने, अपने जीवनकाल में, प्रायः पचास लाख रुपया, ऐसे ही सार्वजनिक परमोपयोगी कार्यों के लिए, व्यय किया; विधवाओं की सहायता के लिए, लड़के लड़कियों की उत्तम सांस्कृतिक और जीविकोपार्जनी शिक्षा के लिए, 'विडोज होम' और स्कूल कालिज स्थापित किये; सिक्खों की समय-समय पर बड़ी सहायता की, कई नये गुरद्वारे बनवा दिये; भारी अस्पताल स्थापित किया जो गवर्मेन्टी अस्पताल का मुकाबिला करता है; इत्यादि। और भी, बीच-बीच में, पत्रों में खबर देख पड़ती है, दो-दो चार-चार लाख रुपयों के दानों की, ऐसे ही सत्कार्यों के लिए। ऊपर कहे सब दानों से बड़ा दान, आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय का हुआ है, रुपयों की संख्या के नाते नहीं, बल्कि त्याग और तपस्या और हृदय

के परम सात्त्विक भाव के नाते; ८३ वर्ष शरीर धारण किया, सारी उमर विद्यार्थियों की "**ज्ञानेन अन्नेन च अन्वहं** (मनु०)", ज्ञान से भी, रुपये-पैसे से भी सहायता की, 'विज्ञान' का उत्कर्ष किया, भारत में भी, और पश्चिम के देशों में भी, 'वैज्ञानिकों' की मंडली में यश पाया और भारतमाता का सिर ऊंचा किया, बड़े कारखाने अपने शिष्यों से खुलवाये, कलकत्ता युनिवर्सिटी से जो मासिक पुरस्कार पारिश्रमिक पाया, और लाखों रुपये का मुनाफा, उनके हिस्से का, उन कारखानों से, उनको मिला, वह सब, पैसा-पैसा, जहांसे आया वहीं वापस दान दे दिया, उन्हीं वैज्ञानिक कार्यों और विद्यार्थियों की सहायता के लिए; अपने लिए, सादे से सादा, शरीरयात्रा मात्र के लिए कठिनता से पर्याप्त अन्न-वस्त्र लिया; मैंने उनको कई बेर फटे-पुराने कपड़े पहिने हुए, सार्वजनिक सभाओं में देखा है, और एक बेर कलकत्ता में, 'पालित इंस्टिट्यूट आफ सायंस' के तिमंजिले पर, एक बड़े लम्बे-चौड़े-ऊंचे कमरे में देखा, जिसमें सिवा एक 'टुटूआं खाट' ('फोलडिङ बेड') के और कुछ नहीं था; और वह खाट एक कोने में दीवार से सटी थी, उसपर कपड़ा नहीं अखबार के बड़े-बड़े पन्ने बिछे थे, और उनपर आचार्य राय लेटे थे; मुझे देखकर उठे और चारों ओर कारखाना दिखाने को लिवा ले गये।

हे भाई होम-हवन वालो! छोड़ो इन थोथे आडम्बरों को! आचार्य राय की पदवी में चलने का यत्न करो, यदि देश का हित चाहते हो तो! आचार्य राय, जन्मना नहीं, कर्मणा सच्चे उत्तमोत्तम 'ब्राह्मण' थे; आप भी वैसे 'ब्राह्मण' बनो! भारत में परमात्मा की इच्छा से, अब कोई-कोई ऐसे श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न हुए और हो रहे हैं, जैसे महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सर जगदीशचन्द्र वसु, सर चंद्रशेखर रमण, सर राधाकृष्णन्, आदि, जो भारतमाता के धूलगर्द में गिरे हुए सिर को

उठाकर ऊंचा कर रहे हैं और विदेशों में उस माता के खोये हुए आदर को फिर से बढ़ा रहे हैं, उनका आप स्वयं आदर करो, उनके कार्यों में सहायता दो !

भारत के बाहर निगाह फैलाओ; तो देखोगे कि यहां जब लाखों रुपयों का दान सार्वजनिक कार्यों के लिए होता है तो वहां कोटियों डालरों का होता है; (एक डालर, तीन रुपये के तुल्य होता है)। उनका ब्यौरा कहांतक लिखा जाय; दो ही का उल्लेख पर्याप्त होगा। ऐन्ड्रू कार्नेगी ने अपनी जिन्दगी में प्रायः बीस कोटि डालर (साठ कोटि रुपये) के दान बड़े-बड़े सार्वजनिक कार्यों के लिए दिये; और जान राकफेलर ने साठ कोटि डालर (एकसौ अस्सी कोटि रुपये)। अवश्य, ऐसी भारी संपत्तियों के एकत्र करने में, भारी पाप भी जाने अन-जाने होजाते ही हैं; उनका प्रायश्चित्त और परिमार्जन भी ऐसे सार्वजनिक सत्पात्रों सत्कार्यों के लिए महादानों, सच्चे महायज्ञों, सच्चे महा-पुण्यों, से ही होता है।

देखिए, भारतीय स्त्रियों की सहायता के लिए, स्व-देश-भक्त, स्व-जाति-भक्त, सद्‌हृदय, विश्वसनीय, सच्चे धर्मिष्ठों ने 'कस्तूरबा-कोष' के नाम से, शुद्ध लोकोपकार-भाव से, पचहत्तर लाख रुपये जमा करने का संकल्प किया है; इससे, देश के सब प्रान्तों में, जहां-जहां अधिक आवश्यकता है, सूतिका-गृह बनाये और चलाये जायंगे, जिनसे लाखों स्त्रियों और बच्चों की प्राण-रक्षा, प्रसूति के घोर संकट के समय में होगी; तथा लाखों लड़कियों और गृहस्थिनियों को गार्हस्थ्योपयोगी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जायगा। यदि आप भी सच्ची धर्मधुरन्धरता की सत्कीर्ति कमाना चाहते हो, तो अपने अनुयायी सेठ-साहूकारों को परामर्श दीजिए कि ऐसे उत्तम सद्-धर्म के कार्यों में सहयोग करें; आप स्वयं स्मरण कीजिए, और उनको करायें, कि "धारणाद् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयति

प्रजाः (म० भा०)"; जिस ज्ञान से, जिस कर्म से, प्रजा का धारण हो, भरण-पोषण हो, परस्पर स्नेह-प्रीति के बन्धनों से हृदय-बंधन हो, वही सद्‌धर्म है; थोथा कर्मकांड नहीं। स्त्रियों की, भारत में, उचित शिक्षा के अभाव से, उचित आदर-सत्कार के अभाव से, तिरस्कार से, जो दुर्दशा होरही है, वह किसीसे छिपी नहीं है; स्त्रियों की दुर्दशा से, बच्चों की, ततः पुरुषों की और कुलों की, ततः समग्र समाज की, दुर्बुद्धिपूर्णता और दुर्दशा होरही है;

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यति आशु तत् कुलं;
न शोचन्ति तु यत्र एताः, वर्धते तद्धि सर्वदा;
जामयो यानि गेहानि शपन्ति अप्रतिपूजिताः;
तानि कृत्याहतानि इव, विनश्यन्ति समन्ततः।
(म० ३, ५७–५८)

जिस कुल में स्त्रियां सुखी हैं, वह सदा फूलता-फलता बढ़ता है; जहां ये दुःखी हैं, जिस कुल को ये शाप देती हैं, वह, मानो बिजली का मारा, आ-मूल नष्ट होजाता है। इसको देखकर, पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए, पाश्चात्य समाज में स्त्रियों की कार्यक्षमता, बुद्ध्युत्कर्ष, बुद्धि-बल-युक्त सन्तान की मातृता, को देखकर, कुछ सहृदय भारतीयों ने, नये कानून बनवाकर, स्त्रियों को कुछ हक, अधिकार, सम्पत्ति आदि के विषय में, दिलाने का यत्न आरम्भ किया है; इसपर, 'धर्म-धुरंधर' सज्जनों ने, देश में, चारों ओर, विरोध का कोलाहल मचाना शुरू किया है—'स्त्रियां नष्ट-भ्रष्ट हो जायंगी, धर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा, दौड़ो, विरोध-सूचक कागज पर दस्तखत करो।' माना कि जो नये कानून सोचे-विचारे जा रहे हैं, उनसे नई आपत्तियों-विपत्तियों की उत्पत्ति का भय है; पर वर्तमान दशा में तो बहुत अधिक दुर्दशा है, बहुत अधिक दोष

हैं; यदि वह आपत्ति-विपत्तियां भविष्य में सम्भाव्य हैं, तो इन विद्यमान दोषों से पैदा हुई आफतें तो वर्तमानकाल में प्रत्यक्ष अनुभाव्य और अनुभूत हैं; इनके प्रतीकार के लिए, आप 'धर्माधिकारी' लोग कोई उपाय कर रहे हो, किसी उपाय की सूचना भी देते हो, या केवल सब नई बातों का विरोध ही करना जानते हो ? रेल, तार, घड़ी, साइकल, रेडियो आदि नई चीजों का विरोध भी आप लोग क्यों नहीं करते हो ? प्रत्युत स्वयं उपयोग करते हो, यह आश्चर्य है ! पनाली में दूध बहाने से ही सब दुर्दशा के स्थान में सुदशा क्या आजायगी ?

यदि आप अपने ही सनातन, वैदिक, आर्य, मानवधर्म का मर्म समझते जानते, तो आपको **'कर्मणा वर्णः'** और **'वयसा आश्रमः'** की समाज-व्यवस्था में, अनुभूयमान और संभावनीय सभी आपत्तियों का प्रतीकार देख पड़ता। परन्तु इस प्राचीन समाज-व्यवस्था के मार्मिक रहस्य की ओर, उसकी सर्व-समस्या-पूरकता, सर्व-प्रश्न-उत्तारकता, सर्व-सामाजिक-रोग-चिकित्सकता की ओर, न नया कानून बनवानेवालों का, न पुरानी (बल्कि मध्यकालीन कर्मकांड की) लकीर पीटनेवालों का, ध्यान जाता है। मैं, इस ओर, पच्चीस, बल्कि पैंतीस, वर्ष से, जनता का ध्यान दिलाने का यत्न कर रहा हूं, पर मेरे किसी पाप से, 'हिन्दू-भीड़-हृदय-ग्राहिणी' तपस्या के अभाव से, मेरा यत्न अभीतक सफल नहीं हुआ है; अथवा इस हेतु से कि देश के ही सामूहिक पाप का, अभीतक अधिक दुःखानुभवों से, पर्याप्त प्रायश्चित्त नहीं हुआ है। जो कुछ भी हो—**'हरीच्छा शिरसा धार्या।'**

अब हवा इतनी तो बदली है कि, तिरस्कार-द्योतक 'बनिया' शब्द से कहे जाते 'वैश्य-वर्ग' के कुछ लोग संस्कृत-विद्या की ओर ध्यान देने लगे हैं; कई सज्जनों ने अच्छी योग्यता स्वयं भी प्राप्त कर ली है,

वेदान्त पर और भक्तियोग पर हिन्दी में, कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ भी लिखे हैं; और छोटी-मोटी पाठशालाएं भी इधर-उधर चला दी हैं; काशी में स्यात् तीस-चालीस ऐसी होंगी; पर आश्चर्य है कि स्वयं संस्कृत-ज्ञ 'वैश्य' होते हुए भी, इन लोगों ने यह कैद लगा रखी है कि इन पाठशालाओं में पढ़ने और पढ़ानेवाले 'ब्राह्मण-जाति-नाम-धारी' ही हों, और वेतन और वृत्ति पावें; और आश्चर्य से अधिक खेद यह है कि इनमें, अधिकतर, 'टिड्ढाणम्, द्वयसच्, चुटू, दीधी-वेवीटाम्' आदि की कोरी व्याकरण की, और उससे भी अधिक शुष्क और व्यर्थ 'विशेष्यता-प्रकारता-विषयता' और 'अवच्छेदकावच्छिन्न' की नव्य न्याय की रटन कराई जाती है। ऐसे संस्कृतज्ञ सेठ-साहूकारों से मेरी विनम्र विनीत प्रार्थना है कि, संस्कृत भाषा के ज्ञान का प्रचार अधिकाधिक अवश्य कीजिए, किंतु नव्य व्याकरण, नव्य न्याय, नव्य-वेदान्त, नव्य मीमांसा आदि पर, जिनमें क्लिष्ट और कटु शब्द बहुत अधिक, और उपयोगी अर्थ बहुत थोड़ा है, तथा जिनसे समाज को लाभ के स्थान पर हानि ही होती है, मानस और शरीर शक्ति की बरबादी मत कराइए; बल्कि प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के द्वारा, व्यक्ति के चित्त और शरीर के पोषक, और समाज के उपकारक, शास्त्रों का ज्ञान खूब फैलाइए; और साथ ही साथ, अंग्रेजी भाषा का भी ज्ञान अवश्य कराइए, जिससे विद्यार्थियों के लिए नये पाश्चात्य विज्ञान के ख़जाने का दर्वाजा खुल जाय। बिना प्राचीन और नवीन के, बिना अध्यात्म शास्त्र और अधिभूत शास्त्र के, बिना प्रज्ञान और विज्ञान के, बिना 'फ़िलासोफी' और 'सायंस' के, समन्वय के, भारत का कल्याण नहीं; न किसी अन्य पाश्चात्य पौरस्त्य देश का ही। मित्रों से मैं अक्सर कहा करता हूं—कोषागार, रत्नभंडार, हमारा ही; आंखें हमारी ही; पर भंडार की

मंजूषाओं को धल-गर्द के ढेर ने, मूढ़ग्राहों ने, दबाकर छिपा दिया है, और उसके ऊपर मिथ्या कर्मकांड और असत्-'शास्त्रों' की मकड़ियों ने जाला भर दिया है, कोठरी में अंधेरा कर दिया है, हमारी आंखों में भी धुंध पैदा करदी है; जबतक हम पच्छिम के विज्ञान के लम्प-लालटेन (लैम्प-लैनटर्न') से काम न लेंगे, वहांकी परीक्षिणी-विवेचिनी बुद्धि की झाड़ू से धूल-गर्द जाला-मकड़ा को न झाड़ेंगे, तबतक हमारे ही पुश्तैनी रत्न हमको न सूझेंगे। प्रवर्त्तमान दारुण विश्व-युद्ध की घोर प्रसववेदना से नया युग जन्म ले रहा है; उसके उचित पालन-पोषण के लिए, अध्यात्म-अधिभूत का समन्वित प्रज्ञान-विज्ञान ही उत्तम क्षीर है, दुग्धोदन है। कभी-कभी तो बड़ी निराशा होती है।

देखि कुपुत्रन की करतूती, भारतमाता रोती है,
रही सही सब आश पुरानी, तजि धीरज, अब खोती है;

पर नहीं, ऊपर कहे सत्पात्रों, सत्कर्मों, के लिए किये गये महादानों से, तथा महात्मा गांधी और आचार्य राय के ऐसे भारत के सपूतों की जीवनी से, फिर आशा बंधती है; और प्राचीन ऋषियों की आज्ञा है,

उत्थातव्यं, जागृतव्यं, योक्तव्यं भूतिकर्मसु,
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा, सततं अव्यथैः;

जागो, उठो, अच्छे कार्यों में लगो, जिनसे देश में, समाज में, भूति, विभूति, आवे, और सब थकावट, व्यथा, शोक, को दूर करके, मन में दृढ़ निश्चय बांधो कि हमारा निस्स्वार्थ सत् लक्ष्य अवश्य सिद्ध ही होगा।

अन्त में पुनः सब शास्त्रवादी सज्जनों से, मेरा विनम्र विनीत निवेदन है कि, आपको शास्त्र में आस्था है तो मुझको भी शास्त्र में आस्था है; पर किस 'शास्त्र' में? देखिए; जैमिनि का 'मीमांसा-सूत्र' धर्मशास्त्र का एक प्रधान ग्रंथ माना जाता है; श्रुति-स्मृति के तात्पर्य का निर्णय

करने के लिए ही रचा गया; उसका भाष्य, 'शाबर-भाष्य', शबर स्वामी ने बनाया; उसकी टीका, तीनों भागों में विभक्त, 'श्लोक-वार्त्तिक-तंत्रवार्तिक-टुप्टीका', कुमारिल भट्ट ने रचा। शबर ने, कई जगह प्रसिद्ध स्मृति के प्रसिद्ध श्लोक को अप्रामाणिक लिखा है (यथा, "**स्मृति अप्रमाणी-कृत्य; भार्यादयो निर्धना इति स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वमान्थाय्यमेत**', मी० सू०, अ० ६, पा० १, अधि० ३-१४; इत्यादि)। कुमारिल ने भी स्मृति का प्रतिवाद किया है (यथा, "**अतः स्मृतिर व्यामोहः, हेतु-दर्शनात्**", मी० सू०, १-३-२; तथा "**विरुद्धा च विगीता च, दृष्टार्था, दृष्टकारणा, स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद, या चैवाऽसम्भवश्रुतिः**", तं. वा. **स्मृत्यधिकरण**; यह श्लोक, मेधातिथि ने, अपनी मनु टीका में, अ० २, श्लोक १८ पर उद्धृत किया है); कुमारिल ने शबर का भी कई स्थलों पर खंडन किया है (यथा, "**ततश्च भाष्यकारेण यदि होक्तमचिंतितं, वाक्यभंग्यन्तरं, तत्र, कर्त्तव्योऽतीवनादरः**" १-३-६)। कुमारिल बड़े स्वतन्त्र विचार के स्पष्ट-वक्ता थे; अपने समय में प्रचलित, उत्तर-भारत, दक्षिण-भारत के ब्राह्मणों के अनाचारों दुराचारों की फिहरिस्त, तंत्रवार्तिक में लिख दी है। ऋत्विक् पुरोहितों के विषय में साफ लिखा है कि श्रद्धालु यजमान को कर्मकांड के किसी प्रयोग में फंसाकर, फिर उसमें शाखा-प्रशाखा निकालते हुए, कर्मों की परंम्परा को बढ़ाते ही चले जाते हैं, और पद-पद पर दक्षिणा मांगते और लेते चलते हैं, तथा अपने मन से अपने मतलब की श्रुतियां स्मृतियां गढ़ते रहते हैं, '**लोभ पूर्वकत्वकल्पनमेवोपपन्नमिति निर्णयात् संदेहनिवृत्तिः**", तं. वा., १-३-४। इस विषय का विस्तार, पं० इंदिरारमण शास्त्री ने, 'मानव-आर्ष-भाष्य' के पृ० ४२९–३० पर किया है)। उस समय में, जब भारत में 'स्व-राज्य' रहा और वह आज के ऐसा अधःपतित पददलित नहीं था, तब यदि लोभी पाषंडी ऋत्विक पुरोहित कर्मकांडी होते थे तो उनको रोकनेवाले, उनकी पोल खोलनेवाले, स्वतंत्र विचारों के पोषक, अंध-श्रद्धा के धर्षक, उद्भट विद्वान भी होते थे; ऐसों में, नितरां अग्रगण्य

BEST COPY AVAILABLE

और शिरोमणि, कृष्ण, महाभारत भागवत आदि के प्रधान नायक, अपने युग के सूत्रधार, नये युग के प्रवर्त्तक होगये हैं। मुझे तो कृष्ण के कहे शास्त्र में आस्था है। गीता में 'शास्त्र' शब्द पांच बेर आया है; एक बार अर्जुन के प्रश्न में, चार बार कृष्ण के वचनों में; और स्वयं कृष्ण ने निर्णय कर दिया है कि यह **"अध्यात्मविद्या विद्यानां"** जो मैने अर्जुन को सिखाया, वही **"इति गुह्यतमं शास्त्रं इदं उक्तं मया, अनघ"!** है, और **"एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च, भारत!"** तथा पुनः–पुनः **"इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि", "ज्ञानं विज्ञानसहितं", "इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं,"** इत्यादि। राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर, रामानुज, मूसा, ईसा, ज़र्दुश्त, मुहम्मद, आदि के, अथ किं सर्व 'मानव' जाति के, आदि प्रजापति 'मनु' की भी यही आज्ञा है, कि, अध्यात्मशास्त्र, आत्मविद्या, केवल निवृत्तिमार्ग की ही उपयोगी नहीं है, अपितु प्रवृत्तिमार्ग की भी, नितरां, सुतरां; वर्णाश्रम धर्म की तो वही नीवीं है;

न हि अन्-अध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं उपाश्नुते;
सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च,
सर्वलोकाधिपत्यं वा, वेदशास्त्रविद् (वेदान्तविद्) अर्हति।
(मनु० ६–८२, १२–१००)

(इस सबकी विस्तृत व्याख्या देखने की रुचि, किसी पाठक सज्जन को हो, तो वे मेरे हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी ग्रंथों को देखें, विशेषकर 'मानव-धर्म-सारः', 'समन्वय', 'पुरुषार्थ', 'एसेन्शल युनिटी आफ आल रिलिजन्स्', 'वर्ल्ड्-वार ऐण्ड इट्स् ओनली क्यूर–वर्ल्ड रिलिजन ऐण्ड वर्ल्ड-आर्डर' तथा पं० इंदिरारमण शास्त्री-संकलित (हिन्दी आशयानुवाद सहित संस्कृत) 'मानव-आर्ष-भाष्य'।)

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिं आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु। ॐ